संत कवि आचार्य श्री जयमल्ल

कृतित्व एवं व्यक्तित्व

[एम. ए. १९७०-७१ की परीक्षा (राजस्थान विश्वविद्यालय) के लिए प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध]

लेखिका

श्रीमती उषा बापना एम. ए.

निदेशक

डा० नरेन्द्र भानावत एम. ए. पी-एच. डी

अभिवृद्धि होती रहे ऐसी शुभ कामना करता हूँ। लेखिका बहन ऐसे शुभ कार्यों में प्रोत्साहित होती रहे इस दृष्टि से संस्था की ओर से उन्हें एक सहस्र रुपयों का पुरस्कार प्रदान करने का निश्चय भी किया है।

एम० ए०, पी० एच० डी० करके निबन्ध लिखनेवाले व्यक्ति जो लिखे अथवा सम्पादित करे वह सब प्रामाणिक ही लिखते हैं यह कोई ऐकान्तिक सत्य नहीं है। लिखने का अभिप्राय यह है कि मेरे पास एक मित्र का कुछ दिनों के पूर्व एक पत्र आया है, जिसमें उसने मेरा ध्यान "क्षमामूर्ति भूधर" की ओर खींचा है। यह पॉकेट साइज छोटा-सा ट्रेक्ट प्रोफेसर डाक्टर मनमोहन शर्मा एम० ए०, पी-एच० डी० आनर्स के द्वारा सम्पादित है। जो प्रवर्तक मरुधर केसरी पंडितरत्नमुनिश्री मिश्रीमल जी महाराज साहब की ओर से उनके पिछले ब्यावर के संवत् २०२८ के चौमासे में प्रकाशित है—उसे लगभग एक साल ही हो पाया है। मुश्किल से सौ पेज का होगा; उसमें दश बातें शंकास्पद हैं। एक सामान्य व्यापारीवर्ग के व्यक्ति के खयाल में इतनी बातें आ जाती हैं तो ऐसी हालत में एक अच्छे सुशिक्षित विचारक के सामने कितनी बातें मिल सकती हैं? जिसकी कोई कल्पना भी नहीं।

इस पर मुझे लिखने को बाध्य होना पड़ा है कि हमारी जयध्वज प्रकाशन समिति की ओर से प्रकाशित "जयध्वज" ग्रंथराज के लेखक श्रीमान गुलाबचन्द्र नानचन्द सेठ इतने पढ़े लिखे न होते हुए भी उन्होंने कम से कम एक हजार पृष्ठों का विशालकाय जयध्वज (श्री मज्जैनाचार्य पूज्य श्री जयमल्लजी म. का जीवन चरित्र) लिखा। जिसे आज प्रसिद्धि में आये तीन साल से भी अधिक का समय हो गया है, किन्तु बड़ी प्रसन्नता की बात है कि मेरे पास उसके विषय में ऐसा एक भी पत्र नहीं आया है। मैं अपने पाठकों को इस विषय में ज्यादा दूर ले जाना नहीं चाहता मुझे तो जो वास्तविक लगा वह बताया है।

इस "संत कवि आचार्य जयमल्ल व्यक्तित्व और कृतित्व" ग्रंथ के प्रकाशन में अनेक व्यक्तियों का आभार मानना परमावश्यक मानता हूँ फिर भी पं०रत्न मुनिश्रीमिश्रीमल जी म. (मधुकर) को शतशः अभिनन्दन देकर सन्तोष करता हूँ कि जिन्होंने गुरुदेव स्वामी जी म. सा. को इस ग्रंथ की बात की जिससे आगे बढ़ने-बढ़ते मुझे अपनी "जयध्वज ग्रंथ प्रकाशन समिति, मद्रास" के माध्यम से प्रकाशन कार्य द्वारा ग्रंथ की और उसके पाठकों की सेवा करने का स्वर्णावसर मिला।

निवेदक

मंत्री—श्री जयध्वज प्रकाशन समिति

४८ अजीज मुल्क सेकिन्ड स्ट्रीट, मद्रास-६

भूमिका

उन्नीसवींशती के प्रारम्भ में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा जो शोध कार्य आरम्भ हुआ, उससे आधुनिक जैन-शोध की शुरूआत हुई। इस शोध की मुख्य प्रवृत्ति प्राचीन ग्रन्थों, विशेषतः आगम ग्रन्थों के सम्पादन, उनके समीक्षात्मक अध्ययन (प्रस्तावना आदि के रूप में) व हस्तलिखित ग्रन्थों के सूचीकरण तक ही सीमित रही। उससे प्रेरित होकर इस दिशा में हमारे यहाँ काफी कार्य हुआ, फिर भी यह विशाल जैनवाङ्मय को देखते हुए अत्यल्प ही है। अब समय आ गया है कि हमें जैन-शोध की दिशाएँ विस्तृत करनी हैं और उनमें समसामयिक जीवनधारा को प्रेरणा देनेवाले मूल्य-सूत्र ढूंढ़ने हैं।

किसी भी विषय के शोध के लिए उसकी प्रामाणिक आधारभूत सामग्री का विशेष महत्त्व है। जैन-शोध की अधिकांश सामग्री हस्तलिखित ग्रन्थ भंडारों, मन्दिरों, खंडहरों और अभिलेखों में बिखरी पड़ी है। इन सब के सर्वेक्षण, संग्रह, सूचीकरण और परिचय प्रकाशन के कार्य को सर्वोपरि महत्त्व दिया जाकर जैन-शोध करने वाले विद्वानों और शोधार्थियों के लिए 'रॉ मटेरियल' के रूप में इसका प्रस्तुत किया जाना बहुत आवश्यक है। यदि हम यह कार्य सम्पादित करने में प्रयत्नशील हो सकें तो जैन-शोध कार्य लोकप्रिय ही नहीं अधिक गतिशील भी हो सकेगा।

जैन-शोध की प्रवृतियाँ अब तक विशेष रूप से धर्म, दर्शन और साहित्य तक ही मुख्यतः सीमित रही हैं। हमें उन्हें धर्म के क्षेत्र विशेष से बाहर निकाल कर मानव संस्कृति के व्यापक परिवेश में प्रस्तुत करने का प्रयत्न करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हमें जैनवाङ्मय में बिखरे पड़े इतिहास, राजनीति, लोक साहित्य, धर्म, दर्शन, भूगोल, खगोल, गणित, ज्योतिष कला, पुरातत्त्व, विज्ञान, भाषा, आयुर्वेद, काव्य, शास्त्र, नाटक आदि विभिन्न सांस्कृतिक तत्त्वों को टटोलना है और उन्हें समसामयिक जीवन-प्रवाह में रखकर उनकी मूल्यगत समीक्षा करनी है। दूसरे शब्दों में हमें जैनवाङ्मय के सामाजिक-सांस्कृतिक अध्ययन की ओर विशेष ध्यान देना है।

जैनधर्म लोकधर्म है। वह लोकभूमि पर ही प्रतिष्ठित हुआ है। उसने

वर्गभेद, जातिभेद, ऊँच-नीच सबका विरोध कर लोकभाव को ही पुष्ट किया है। जैन विद्या के अध्ययन में हमारी दृष्टि इस लोकतत्त्व पर टिकी रहनी चाहिये। यह लोकतत्त्व सब में रमा हुआ है, क्या भाषा, क्या अनुभूति, क्या कथानक, क्या काव्य-रूप, क्या रचनाशैली ! इस लोकतत्त्व के माध्यम से ही हम उन सांस्कृतिक तत्त्वों को पकड़ सकेंगे जो देश की अखण्डता व एकता के अवबोधक हैं और जिन्होंने मध्ययुगीन भक्ति-काव्य तथा संतपरम्परा को प्रभावित किया है।

जैनधर्म व दर्शन की वैचारिक क्रांति के इतिहास में निर्णायक व प्रभावशाली भूमिका रही है। उसने भारतीय साहित्य और साधना को काफी दूर तक प्रभावित किया है। जन-जीवन को स्वाश्रयी और स्वस्थ बनाने में उसका विशेष हाथ रहा है। वे प्रभाव वर्तमान जीवन को भी शक्ति और स्फूर्ति दे रहे हैं। अपने शोध में हमें इस बात पर ध्यान रखना है कि जैन विद्या का सम्बन्ध केवल अतीत और व्यतीत आदर्शों से ही नहीं है वरन् वर्तमान जीवन और व्यवहार से भी है। हमें उन मूल्यों की खोज करनी है जो आज भी पूर्णता और सार्थकता के लिये अपरिहार्य है।

मानव धर्म के विकासात्मक अध्ययन में जैनधर्म के योगदान और उसके रोल की समीक्षा भी हमें करनी है। अब तक हम जैनधर्म को साम्प्रदायिक व्यामोह से मुक्त नहीं करा सके। इस कारण उसके अध्ययन का व्यापक आधार नहीं बन पाया है। हमें पूरे भारतीय धर्म, दर्शन और साहित्य के इतिहास में उसकी आकृति (Image) उभारनी है। यह कार्य दो दिशाओं से करना होगा—एक तो अलग-अलग प्रान्तों या अंचलों में पड़े जैन-संस्कृति के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक, नैतिक, कलात्मक आदि विभिन्न प्रभावों की वस्तुनिष्ठ समीक्षा करते हुए उसकी समग्रता का मूल्यांकन कर और दूसरे समग्र जीवन-दृष्टि में अलग-अलग स्रोत से आकर मिलने वाले प्रभाव-तत्त्वों के सन्दर्भ में जैन-तत्त्वों की स्थिति का मूल्यांकन कर। पहली दिशा हमें अनेकता से एकता की ओर ले जाती है और दूसरी दिशा अंगी से अंग की ओर। दोनों रास्ते अलग-अलग होकर भी एक ही गन्तव्य पर पहुँचते हैं।

जैन-शोध में हमें तुलनात्मक शोध-दृष्टि विकसित करनी है। विभिन्न भारतीय भाषाओं में विशेषकर दक्षिण भारत की भाषाओं में जो जैन साहित्य रचा गया है, उसकी प्रवृत्तियों, प्रेरणा स्रोतों एवं प्रभावों को उत्तर भारत की भाषाओं के साथ रखकर देखने की आवश्यकता है। मध्ययुगीन साहित्य में

जो विभिन्न प्रवृत्तियाँ और काव्यशैलियाँ विकसित हुईं उनके मूल में संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य ही मुख्य प्रेरणा-स्रोत रहा है। अतः प्राकृत, अपभ्रंश साहित्य के अध्ययन को भारतीय साहित्य में विकासात्मक अध्ययन की जोड़ में रखकर देखने की आवश्यक बढ़ गई है।

आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने जैन-साहित्य को सम्प्रदाय परक साहित्य मानकर उसका उचित मूल्यांकन नहीं किया, पर बाद में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० रामसिंह तोमर आदि विद्वानों ने जैन-साहित्य को उचित महत्त्व देकर मध्ययुगीन संत-परम्परा, प्रेमाख्यानक-परम्परा आदि के विकास में पूर्व-वर्ती जैन साहित्य की प्रभावकारी भूमिका को स्वीकार किया तब से विश्व-विद्यालयों में जैन-साहित्य की शोध प्रवृत्ति बढ़ी है। समयसुन्दर, जिनहर्ष, बनारसीदास, भूधरदास जैसे महान् कवियों के व्यक्तित्व और कृतित्व पर शोध-प्रबन्ध लिखे गये हैं।

जैनसाहित्य के अध्ययन-अनुशीलन में स्थानकवासी परम्परा के कवियों पर अब तक विद्वानों का पर्याप्त ध्यान नहीं गया है। और न इस परम्परा को लेकर शोधकार्य में प्रवृत्ति बढ़ी है। पंडित मुनिश्री लक्ष्मीचन्दजी महाराज ने अवश्य स्थानकवासी परम्परा के अनेक कवियों पर कई संक्षिप्त परिचया-त्मक लेख जयपुर से प्रकाशित होने वाली जिनवाणी मासिक पत्रिका में प्रकाशित करवाये तब मेरा ध्यान स्थानकवासी परम्परा की साहित्यिक दाय पर गया और मैंने अपनी एम० ए० की दो छात्राओं श्रीमती उषा बापना और कुमारी मधु माथुर को क्रमशः आचार्य श्री जयमलजी मा० सा० और श्री तिलोक ऋषिजी महाराज के व्यक्तित्व और कृतित्व पर लघु शोधप्रबन्ध प्रस्तुत करने के लिए प्रेरित किया। मुझे प्रसन्नता है कि उनमें से प्रथम ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है।

श्रीमती उषा बापना ने मेरे निर्देशन में अपने एम० ए० (हिन्दी) के लघु शोधप्रबन्ध के रूप में बड़े मनोयोग और अध्यवसाय के साथ इस ग्रन्थ का प्रणयन किया। आधार सामग्री के रूप में उसके समक्ष पं० मुनिश्री मधुकरजी द्वारा सम्पादित 'जयवाणी' पुस्तिका थी। आचार्य विनयचन्द्र ज्ञान-भण्डार, शोध प्रतिष्ठान, जयपुर में संग्रहित हस्तलिखित ग्रन्थों से भी लेखिका ने लाभ उठाया।

यह ग्रन्थ आचार्य श्री जयमलजी महाराज सा० की परम्परा के वर्तमान संत पंडित मुनिश्री मधुकरजी महाराज सा० को समर्पित कर लेखिका ने

उनके प्रति जो श्रद्धा और निष्ठा व्यक्त की है, वह स्तुत्य है। मुनिश्री जैन-साहित्य के निर्माण, उन्नयन और विकास में मनोयोगपूर्वक लगे हुए हैं। इस ग्रन्थ के प्रणयन और प्रकाशन के मूल में भी मुनिश्री की विशेप प्रेरणा रही है। 'जय ध्वज' प्रकाशन समिति, मद्रास ने इस ग्रन्थ का प्रकाशन कर हिन्दी संसार को आचार्य श्री जयमल जी महाराज जैसे महान् संत कवि से परिचित कराने में जो पहल की इसके लिए वह धन्यवाद की पात्र है। समिति केवल ग्रन्थ का प्रकाशन करके ही नहीं रह गई वरन् उसने एक हजार एक रुपए का पुरस्कार प्रदान कर लेखिका को सम्मानित भी किया है। इस सम्मान से न केवल लेखिका का गौरव बढ़ा है वरन् इससे इस क्षेत्र में कार्य करने वाले शोधार्थियों को विशेष बल और प्रोत्साहन भी मिलेगा। समिति की यह उदार मनोवृत्ति प्रशंसनीय है। आशा है आचार्य श्री जयमलजी महाराज सा० की परम्परा में हुए आचार्य श्री रायचन्द्रजी महाराज, आ० श्री आसकरणजी महाराज जैसे महान् संत कवियों की साहित्यिक रचनाओं के अध्ययन अनुशीलन में भी विशेष सहायक बनेगी।

ग्रन्थ के मुद्रण और साज-सज्जा में जैन-दर्शन के प्रखर विद्वान श्री श्रीचन्दजी साहब सुराणा 'सरस' ने जो रुचि प्रकट कर सहयोग दिया उसी का यह परिणाम है कि यह ग्रन्थ अपने सुन्दर रूप में पाठकों के समक्ष आ सका। मुझे पूरा विश्वास है, इस ग्रन्थ के प्रकाशन से हिन्दी संत काव्य-परम्परा में एक नई कड़ी जुड़ेगी।

डा० नरेन्द्र भानावत
हिन्दी प्राध्यापक, रा० वि० विद्यालय,
मानद निदेशक,
आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार,
शोध-प्रतिष्ठान, जयपुर

प्राक्कथन

साहित्य का स्वभाव विषमता में समता स्थापित करना है। यह समता स्थापन का कार्य दुरूह है। इसके लिए साहित्यकार को कठिन तपस्या करनी पड़ती है। दीपक की भाँति तिल-तिल कर जलना पड़ता है। यही जलन एवं तड़प सच्चे साहित्य की कसौटी है, जो साहित्यकार साधक बन जाता है उसका साहित्य ही विरोधी भावों का मेल करा सकता है और अन्ततः "सहितस्य भावः साहित्यम्" की ध्वनि को आत्मसात् कर लोक-मंगल भावना का वाहक बन सकता है। कहना न होगा कि जैन-साहित्य व जैन-साहित्यकार इस मंगल भावना के सच्चे वाहक और साधक हैं। वे जो कुछ कहते हैं पहले जीवन में उसे उतारते हैं। उनके जीवन की प्रयोगशाला में ही विभिन्न भाव मुक्ता आलोक ग्रहण करते हैं, आकार धारण करते हैं और तब अपने तेज से, प्रकाश से दूसरों को प्रतिभासित और दीपित करते हैं।

बहुत समय तक जैन साहित्य धार्मिक कहा जाकर उपेक्षित रहा, किन्तु सत्य पर पर्दा अधिक समय तक नहीं रह सका और आज हिन्दी साहित्य के इतिहास में आदिकाल नाम का तथाकथित काल बिना जैन साहित्य का आधार लिए टिक नहीं सकता। यह ठीक है कि इसमें जैन-धर्म के सिद्धान्तों के आधार पर जीवन बिताने का उपदेश दिया गया है, पर इसी कारण इनका महत्व कम नहीं हो जाता जैसा कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की मान्यता रही है—"धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्यिक कोटि से अलग नहीं की जा सकती।" यदि ऐसा समझा जाने लगे तो तुलसीदास का "रामचरितमानस" भी साहित्य क्षेत्र में अविवेच्य हो जायगा।[1] इस युग के साहित्य की प्रधान प्रेरणा धर्मसाधना ही रही है और यह कहना भी अत्युक्तिपूर्ण नहीं होगा कि उस काल की आज जो थोड़ी बहुत पुस्तकें अवशिष्ट रही हैं उनके सुरक्षित रहने का कारण प्रधान रूप से धर्म-बुद्धि ही रही है।

---

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दीसाहित्य का आदिकाल, पृ० ११

जैन साहित्य ने हिन्दी साहित्य को कई रूपों में अपनी देन दी है। यह देन सीधी न आकर संस्कृत प्राकृत-अपभ्रंश से होती हुई हिन्दी में आई। इस देन को स्थूलतः दो रूपों में बाँट सकते हैं। (१) संरक्षणात्मक व (२) सर्जनात्मक। संरक्षणात्मक रूप में जैन विद्वानों ने हिन्दी के विपुल और विविध साहित्य की रक्षा की, उसे काल की आँधी से बचाया। सर्जनात्मक रूप में इसने विचार एवं शिल्प दोनों क्षेत्रों में नई दृष्टि और स्वर दिया।[1] विचार क्षेत्र में मानवतावादी दृष्टिकोण राष्ट्रीय भूमिका और आध्यात्म भावना को विशेष प्रश्रय दिया। शिल्प क्षेत्र में कई नये काव्य रूपों—चर्चरी, सज्झाय, फागु, वेलि, रास आदि को जन्म दिया। भाषा एवं छन्द को जन साधारण के निकट ला उतारा।

आदिकाल के प्रमुख जैन कवि उद्योतन सूरि, स्वयंभू पुष्पदत्त, योगीन्दु, हरिभद्र सूरि, रामसिंह, धनपाल, कनकामर मुनि, शालिभद्रसूरि वज्रसेन सूरि आदि हैं। इसके बाद मध्य युग में अनेक जैन कवि हुए जिनमें प्रमुख कवि सर्वश्री समयसुन्दर, जिनहर्ष, वीर विजय सकलकीर्ति, बनारसीदास, भूधरदास, वृन्दावन, द्यानतराय, धर्मवर्द्धन, ज्ञानसागर आदि उल्लेखनीय हैं। इन जैन कवियों की परम्परा आज तक चली आ रही है।

जैन साहित्य की महत्ता यद्यपि अब सभी विद्वान स्वीकार करने लगे हैं तथापि कई ऐसे कवि हैं, जिनकी कृतियाँ कपाटों में वन्द पड़ी हैं; उनके पुनरुद्धार की आज अत्यन्त आवश्यकता है। आलोच्य कवि जयमल्ल जी भी ऐसे ही सन्त हैं जिनके कवित्व की ओर हिन्दी विद्वानों का ध्यान नहीं गया है। इस दिशा में किये गये दो प्रयत्न विशेष महत्वपूर्ण हैं। प्रथम मुनि श्री मिश्रीमल्ल जी 'मधुकर' का प्रयत्न जिन्होंने जयमल्ल जी की कई बिखरी हुई रचनाओं को 'जयवाणी'[2] नाम से संकलित किया। दूसरा प्रयत्न डा० नरेन्द्र भानावत का है जिन्होंने मुनि श्री हजारीमल स्मृतिग्रंथ में 'आचार्य जयमल्ल जी : व्यक्तित्व एवं कृतित्व' विषय पर विस्तृत निबन्ध लिखकर उनके कवि रूप का मूल्यांकन किया।

जैन होने के कारण मेरी रुचि जैन साहित्य की ओर प्रारम्भ से ही रही है। गत ग्रीष्मावकास में जब एक दिन हजारीमल स्मृति ग्रन्थ में प्रकाशित डा० भानावत के 'आचार्य जयमल्लजी : व्यक्तित्व एवं कृतित्व' निवन्ध पर मेरी

---

१. डा० नरेन्द्र भानावत—साहित्य के त्रिकोण, पृ० २०७

२. इसका प्रकाशन सन्मति ज्ञानपीठ आगरा से हुआ है।

दृष्टि पड़ी तो इस सम्बन्ध में आगे और अध्ययन करने की मेरी इच्छा वलवती हुई ।

प्रस्तुत लघु शोध-प्रबन्ध पाँच अध्यायों में विभक्त किया गया है । प्रथम अध्याय संत कवि जयमल्लजी के जीवन और व्यक्तित्व से सम्बन्धित है । इसमें अन्तर्साक्ष्य एवं वहिर्साक्ष्य के आधार पर उनके जन्मकाल, जन्मस्थान, शिक्षा, विवाह, दीक्षा, साधना-काल, विहार-क्षेत्र, शिष्य सम्पदा, आचार्य परम्परा, जन सम्पर्क एवं धर्मप्रचार, स्वर्गवास और व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला गया है ।

द्वितीय अध्याय उनके कृतित्व से सम्बन्धित है । इसमें जयमल्लजी की समस्त रचनाओं को चार विभागों—स्तुतिपरक, उपदेशपरक, चरितपरक एवं प्रकीर्णक में विभक्त कर उनका सामान्य परिचय दिया गया है ।

तृतीय अध्याय में जयमल्ल जी की रचनाओं का साहित्यिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है । इस अध्ययन को पाँच वर्गों में विभक्त किया गया है—स्तुतिपरक, उपदेशपरक, चरित्रपरक, प्रकीर्णक एवं कला-विधान । कला-विधान में कवि की भाषा, शब्द प्रयोग, पारिभाषिक शब्दावली, अलंकार विधान शैली विधान एवं छन्द विधान पर विचार किया गया है ।

चतुर्थ अध्याय में कवि के दार्शनिक विचारों को आत्मा, परमात्मा, जगत्, साधना, पूर्वजन्म एवं कर्मवाद और मुक्ति शीर्षकों में विभाजित कर समझाने की चेष्टा की गई है ।

पंचम अध्याय में जयमल्ल जी की रचनाओं के आधार पर तत्कालीन सांस्कृतिक जीवन का चित्र प्रस्तुत किया गया है ।

ग्रन्थ के अन्त में दो परिशिष्ट दिए गए हैं । प्रथम परिशिष्ट में जयमल्ल जी की दो अप्रकाशित रचनाओं—(१) अम्वड सन्यासी की ढाल एवं (२) मृगालोढा की ढाल-का मूल पाठ दिया गया है । द्वितीय परिशिष्ट सहायक ग्रन्थों की सूची से सम्बन्धित है । ग्रंथ को अधिक प्रामाणिक बनाने की दृष्टि से यथास्थान अप्रकाशित रचनाओं के आदि व अन्त की दो-दो फोटो प्रतियाँ भी दी गई हैं ।

यह लघु शोध-प्रबन्ध राजस्थान विश्व विद्यालय के हिन्दी विभाग के प्राध्यापक श्रद्धेय गुरुदेव डा० नरेन्द्र भानावत के निर्देशन में प्रस्तुत किया गया है । उनकी सतत प्रेरणा, मार्गदर्शन, स्नेह और सौजन्य ने ही मेरा मार्गदर्शन किया

है अन्यथा शास्त्रीय लिपि के इन प्राचीन ग्रन्थों के इस शोध प्रयत्न में मेरी पहुँच नगण्य रहती। मैं उनकी बहुत अनुगृहीत हूँ और शब्दों में कृतज्ञता प्रकट करने में स्वयं को असमर्थ पाती हूँ।

श्रीमती शान्ता भानावत ने मेरे अध्ययन में आनेवाली बाधाओं को हल कर सतत प्रेरणा दी जिनका मैं हृदय से आभार स्वीकार करती हूँ।

श्रद्धेय गुरुवर डा० सरनाम सिंह जी शर्मा "अरुण" का भी आभार स्वीकार करती हूँ जिनकी प्रेरणा और अनुमति से मैं इस कार्य की ओर प्रवृत्त हुई।

आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान भंडार, जयपुर के व्यवस्थापक श्री सोहनमल कोठारी और कार्यकर्ता श्री गजसिंहजी राठौर व श्री मोतीलालजी गाँधी भी धन्यवाद के पात्र हैं जिनकी कृपा से मुझे अध्ययन के लिए अलभ्य हस्तलिखित प्राचीन ग्रन्थ व अन्य सहायक पुस्तकें उपलब्ध हो सकी।

सौभाग्य से आलोच्य कवि जयमल्ल जी महाराज की परम्परा के यशस्वी सन्त मुनि श्री मिश्रीमल जी 'मधुकर' का चातुर्मास इस वर्ष जयपुर ही में हुआ। चातुर्मास काल में उन्होंने समय-समय पर जयवाणी के कई स्थलों को स्पष्ट कर मेरे मार्ग को सरल बना दिया। इस कृपा के लिए मैं हृदय के गहन स्थल से उनके प्रति आभार प्रकट करती हूँ।

यदि इस प्रबन्ध के द्वारा अन्य शोधकर्मी छात्र अज्ञात जैन सन्त साहित्य के अध्ययन-अनुशीलन की ओर किंचित भी प्रवृत्त हुए तो मैं अपने श्रम को सार्थक समझूँगी।

—उषा बापना

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पंचम अध्याय

जीवन
और
व्यक्तित्व

प्रथम अध्याय

जीवन और व्यक्तित्व

जीवन

जन्म

कविवर जयमल्लजी का जन्म संवत् १७६५ में भाद्रपद शुक्ला त्रयोदशी को[1] जोधपुर क्षेत्र में मेड़ता से जैतारण की ओर जानेवाली सड़क पर अवस्थित लांबिया नामक ग्राम में हुआ। उनके पिता का नाम मोहनलाल जी एवं माता का नाम महिमादेवी था[2]। ये समदड़िया-महता-गोत्रीय वीसा ओसवाल थे। इनके पिता कामदार थे। इनके बड़े भाई का नाम रिड़मल था। २२ वर्ष की अवस्था में इनका विवाह रीवां निवासी शिवकरण जी मूथा की सुपुत्री लक्ष्मीदेवी के साथ हुआ।[3]

दीक्षा प्रसंग

विवाहोपरान्त जयमल्ल जी व्यापारार्थ मेड़ता आये[4]। वे वणिक बनकर कर्मक्षेत्र में उतरे अवश्य, पर व्यापार उनका लक्ष्य नहीं था। धर्म की ओर रुझान होने पर भी वे उसके पीछे दिवाने नहीं बने। यह संयोग ही था कि वे अपने व्यावसायिक मित्रों के साथ सौदा करने आये अवश्य, पर बाजार बन्द

---

१. पूज्य गुणमाला : श्री चौथमलजी महाराज, पृ० ८

२. जम्बूदीपना भरत में रे लाल, लांबिया गाम श्रीकार।
मुहुता मोहनदास जी रे लाल, महिमादे घर नार॥

—पूज्य आसकरण जी महाराज : व्याख्यान नव-रत्नमाला पृ. १

३. मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रन्थ : डा० नरेन्द्र भानावत, का निबन्ध पृ० १३८

४. मेड़ता नगर पधारिया रे लाल, करवा वणिज व्यापार।

—पूज्य आसकरण जी महाराजः व्याख्यान नव-रत्नमाला पृ० २

देखकर अनायास ही स्थानकवासी परम्परा के आचार्य श्री धरमदास जी[1] की शाखा के प्रशासक पूज्यवर भूधर जी महाराज[2] की सेवा में उपस्थित हो गये। भूधर जी महाराज अपने समय के अच्छे व्याख्याता एवं धर्म प्रचारक थे। वे अपने प्रवचन में ब्रह्मचर्य-व्रत की दृढ़ता और महत्ता पर सेठ सुदर्शन का जीवन-प्रसंग गा-गाकर सुना रहे थे। यद्यपि जयमल्लजी प्रथम वार ही मुनिराजों की धर्म-सभा में पहुँचे थे तथापि उनके हृदय में संयम ग्रहण करने की भावना प्रवल रूप से जाग्रत हो उठी। पूर्ण चन्द्र की ज्योत्स्ना से उद्वेलित होकर समुद्र जिस प्रकार हिलोरें लेने लगता है उसी प्रकार उनका मन सांसारिक विषय-वासना से मुक्ति पाने के लिए व्यग्र हो उठा। इसीलिए तो उन्होंने वहीं बैठे-बैठे ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया। और संयम ग्रहण किये विना मेड़ता से वाहर नहीं निकलने की प्रतिज्ञा भी धारण कर ली।

विवाह के कुछ समय वाद ही इनकी पत्नी लक्ष्मीदेवी अपने पीहर चली गई थी। उसका पुनरागमन होने वाला ही था कि जयमल्लजी साधु हो गये। जयमल्लजी के प्रति उनके माता-पिता व बड़े भाई के मन में अगाध ममता थी, पर सब व्यर्थ। नवपरिणीता वधू का ज्वारभाटे की तरह उफनता प्यार भी उनके निश्चय को नहीं रोक सका। संवत् १७८७ की मार्गशीर्ष कृष्णा द्वितीया के दिन[3] उन्होंने मेड़ता में श्रमण-जीवन में प्रवेश किया[4]। विवाह

---

१. पूज्य धरमदास जी युगप्रधान आचार्य थे। इनका जन्म अहमदाबाद के पास सरखेज गाँव में जीवन भाई पटेल के यहाँ संवत् १७०१ चैत्र शुक्ला एकादशी को हुआ। ये संवत् १७२७ में आचार्य बने और अड़तीस वर्ष तक धर्म प्रचार करने के बाद सन् १७५९ में स्वर्गवासी हुए।

—जिनवाणी : सितम्बर १९६०, पृ० २२८-२३२

२. भूधरजी अपने समय के वड़े तपस्वी और प्रभावशाली आचार्य थे। इनका जन्म सोजत में हुआ। इन्होंने संवत् १७७३ में पूज्य श्री धन्नाजी के पास दीक्षा ली और संवत् १८०४ में इनका स्वर्गवास हुआ। इनके चार बड़े शिष्य हुए जिनकी परम्पराएँ आज तक वर्तमान हैं।

३. पूज्य जयमल्ल गुणमाला (द्वितीय संस्करण) के अनुसार दीक्षा तिथि संवत् १७८८ की मार्गशीर्ष कृष्णा द्वितीया भी मानी गई है।

४. हां रे साजन संवत् सत्तरे सतियासी थे, हां रे साजन लीनो संजम भार।
जयमल्ल जी री दीक्षा मृगशिर वद वीजरी ॥ टेर ॥ १ ॥

—व्याख्यान नवरत्न माला, पृ० १२

के छह मास के बाद ही ये श्रमण बन गये। इनकी दीक्षा के उपरान्त इनकी पत्नी ने भी संयम ग्रहण कर लिया। सात दिनों के बाद ही विकरणिया गाँव में इन्होंने बड़ी दीक्षा अंगीकार की[1]।

साधना-काल

श्रमण जीवन में प्रवेश करते ही श्री जयमल्ल जी ने कठोर साधना आरम्भ कर दी। साधना में ये वज्र की तरह कठोर थे। इनके विचारों में प्रेम एवं कर्तव्य का द्वन्द्व नहीं था। जीवन का एक ही लक्ष्य था आत्मकल्याण। श्रमण-जीवन में प्रवेश करते ही इनकी एकान्तर तप[2] की आराधना आरम्भ हो गई। जो १६ वर्ष तक निर्बाध गति से चलती रही। इन्होंने पाँच तिथियों[3] के प्रत्याख्यान भी कर लिए।

जयमल्लजी अध्यवसायी ही नहीं, अध्ययनशील भी थे। इनकी बुद्धि तीव्र एवं स्मृति बड़ी जागरूक थी। दीक्षा लेने के बाद, स्वल्प समय में ही इन्होंने एक ही प्रहर में पाँच शास्त्र[4] कंठस्थ कर लिए थे[5]।

जयमल्ल जी धुन के पक्के थे। इनमें अपने गुरु के प्रति असीम श्रद्धा थी। जब भूधर जी स्वर्ग सिधारे तब इन्होंने कभी नहीं लेटने की प्रतिज्ञा की[6]। इस सतत जागरूकता ने इन्हें अन्तर्मुखी बना दिया और इनकी अन्तर्दृष्टि ने काव्य का वह स्वरूप पाया जो "स्वान्त:सुखाय" बनकर ही नहीं रहा वरन् "परान्त:सुखाय" भी बना[7]।

---

१. बड़ी दीक्षा दिन सात में रे लाल, बड़वीखरणीयां हेट ॥श्री॥

—वहीं, पृ० १३

२. एक दिन उपवास और एक दिन आहार के क्रम को एकान्तर-तप कहते हैं।

३. (१) द्वितीया (२) पंचमी (३) अष्टमी (४) एकादशी (५) चतुर्दशी।

४. (१) कप्पिया (२) कप्पवडंसिया (३) पुप्फिया (४) पुप्फचूलिया (५) वण्हिदसाओ।

५. पांच सूत्र तो एक पहर में पढ़कर कण्ठा करियारे।

—व्याख्यान नवरत्न माला पृ. १३

६. जिण दिन थी जयमल्ल जी सिगा पोढ़ण का पच्चक्खान।
वर्ष पचास लों पालियो थो भीषम-व्रत गुणवान ॥

—वहीं, पृ० १५

७. मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रन्थ, डा० नरेन्द्र भानावत का निबन्ध, १३८।

संवत् १८०४ में आसोज शुक्ला दसमी-शुक्रवार को भूधर जी का स्वर्गवास हुआ। तदनन्तर संवत् १८०५ में अक्षय तृतीया को जोधपुर में जयमल्लजी आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। इस पद पर ये लगभग ४७ वर्ष तक रहे।

विहार क्षेत्र

जैन सन्तों का वर्षावास के अतिरिक्त एक जगह ठहरने का विधान नहीं है। अतः वे अन्यान्य ग्रामानुग्राम विचरण कर जन-जन को धर्मोपदेश देते रहते हैं। जयमल्लजी का विचरण-स्थल प्रमुखतः राजस्थान रहा। राजस्थान के अतिरिक्त पंजाब, आगरा, दिल्ली एवं मालवा की ओर भी इन्होंने विचरण किया। इनके वर्षावासों की तालिका इस प्रकार है :

सोजत

संवत् १७८८, १७९६, १८०३, १८०५, १८१९ व १८३२

जालौर

संवत् १७९१

जोधपुर

संवत् १७९३, १७९५, १७९७, १८००, १८०१, १८१०, १८१६, १८२०, १८२६, १८२९, १८३४, १८३६

मेड़ता

संवत् १७९२, १७९८, १८०२, १८०४, १८०७, १८२४ व १८२७

किशनगढ़

संवत् १७९९, १८१५, १८२१, १८३० व १८३८

बोरावड़

संवत् १८०८

जैतारण

संवत् १८०९

पीपाड़

संवत् १८११, १८३५

भीलवाड़ा

संवत् १८१२

उदयपुर

संवत् १८१३

और श्री हरिदास जी। आचार्य जयमल्लजी महाराज आचार्य धर्मदास जी महाराज की सम्प्रदाय की परम्परा से सम्बन्धित हैं। धर्मदास जी के कई शिष्य थे उनमें धन्ना जी महाराज प्रमुख थे। धन्ना जी सांचोर के मूथा बाघा शाह के पुत्र थे। संवत् १७२७ में ये दीक्षित हुए। मेड़ता में इनका स्वर्गवास हुआ। इनके शिष्य थे भूधर जी। भूधर जी के ही शिष्य थे हमारे आलोच्य कवि आचार्य श्री जयमल्ल जी।

जयमल्ल जी के बाद जो आचार्य परम्परा आज तक-चली आयी है उसका विवरण इस प्रकार है।

(१) आचार्य श्री रायचन्द जी

श्री जयमल्ल जी ने संघ-व्यवस्था का दायित्व रायचन्द्र जी महाराज को संवत् १८४९ में युवाचार्य घोषित करके प्रदान किया। आचार्य रायचन्द जी का जन्म संवत् १७९६ में आसोज शुक्ला एकादशी को जोधपुर में हुआ। इनके पिता विजयराजी धाड़ीवाल एवं माता नन्दा देवी थी। अपने यौवन-काल में ही इन्होंने गुरु गोरधनदास जी द्वारा संवत् १८१४ आसाढ़ शुक्ला एकादशी को मारवाड़ के प्रसिद्ध नगर-पीपाड़ में दीक्षा ग्रहण की।

ये बड़े ज्ञानी और सफल कवि थे।[1] इन्होंने तत्वात्मक, उपदेशात्मक, स्तुत्यात्मक एवं कथात्मक रूप से विशाल साहित्य की रचना की।[2]

रायचन्द जी ने ७ शिष्यों को दीक्षा प्रदान की। उनकी शिक्षा-दीक्षा तप, त्याग, वैराग्य आदि का दायित्व वहन करते हुए सं० १८६८ माघ कृष्णा चतुर्दशी को ये स्वर्गवासी हुए।

(२) आचार्य आसकरण जी

आचार्य रायचन्द जी के बाद ये आचार्य बने। आचार्य श्री रायचन्द जी ने सं० १८५७ में आषाढ़ कृष्णा पंचमी के दिन इन्हें युवाचार्य पद प्रदान किया।

इनका जन्म तिमरपुर में संवत् १८१२ में मार्गशीर्ष कृष्णा द्वितीया को हुआ। इनकी माता का नाम गीगादे और पिता का नाम रूपचन्द जी बोथरा था। इनकी दीक्षा संवत् १८३० में वैशाख कृष्णा पंचमी को तिवरी में हुई।

---

१. इनके कवि रूप के विशेष अध्ययन के लिए देखिए—सुश्री स्नेहलता माथुर का आचार्य रायचन्द जी की पच्चीसी संख्यक रचनायें (अप्रकाशित लघुशोध प्रबन्ध)

२. इनकी ये सभी रचनायें "आचार्य श्री विनयचन्द ज्ञान भण्डार' जयपुर में सुरक्षित हैं।

ये भी अच्छे कवि थे। इन्होंने १० भव्यात्माओं को दीक्षा दी। इनका स्वर्गवास संवत् १८८२ में कार्तिक कृष्णा पंचमी को हुआ।

(३) आचार्य सबलदास जी

आचार्य आसकरण जी के बाद ये आचार्य बने। इनका जन्म संवत् १८२८ में भाद्रपद शुक्ला द्वादशी को पोकरण में हुआ। इनकी माता का नाम सुन्दर देवी एवं पिता का नाम आनन्दराम जी लूणिया था। संवत् १८४२ की मार्गशीर्ष शुक्ला तृतीया को बचकला ग्राम में आचार्य रायचन्द जी द्वारा इन्होंने मुनिदीक्षा ग्रहण की।

ये भी अपने समय के अच्छे कवि थे। इन्हें छन्द शास्त्र का गहरा ज्ञान था। इनका स्वर्गवास संवत् १९०३ की वैशाख शुक्ला नवमी को सोजत में हुआ। इनके चार शिष्य हुए।

(४) आचार्य हीराचन्द जी—

आचार्य जयमल्ल जी के बाद चतुर्थ आचार्य हीराचन्द जी हुए। इनका जन्म संवत् १८५४ में भाद्रपद शुक्ला पंचमी को विराई ग्राम (राजस्थान) में नरसिंह जी कांकरिया के यहाँ हुआ। इनकी माता का नाम गुमानदेवी था। दस वर्ष की अवस्था में इनकी दीक्षा संवत १८६४ आश्विन कृष्णा तृतीया को सोजत में हुई।

संवत् १९२० में फाल्गुन कृष्णा सप्तमी को इनका स्वर्गवास हुआ। इनके ५ शिष्य हुए।

(५) आचार्य कस्तूरचन्द जी

ये पाँचवे आचार्य हुए। इनका जन्म संवत् १८९८ की फाल्गुन कृष्णा तृतीया को विसलपुर में हुआ। इनकी माता का नाम कुन्दनादे व पिता का नाम नरसिंहजी था। इन्होंने संवत् १९०७ में पाली में दीक्षा ग्रहण की और संयम के अग्निपथ पर निर्बाध गति से बढ़ते रहे। इनके ५ शिष्य हुए। संवत् १९७७ में इनका स्वर्गवास हुआ।

(६) आचार्य भीखमचन्द जी

ये छठे आचार्य हुए। ये संवत् १९६० में भाद्रपद शुक्ला पूर्णिमा को आचार्य पद पर जोधपुर में आसीन हुए। इनकी माता का नाम जीवन दे एवं पिता का नाम रतनचन्द जी था। इन्होंने युवावस्था में ही संयम ग्रहण कर

लिया था। इनके दो शिष्य मनसुख जी एवं कानमल जी हुए। संवत् १९६५ की वैशाख कृष्णा पंचमी को इनका स्वर्गवास हुआ।

(७) आचार्य कानमल जी

ये सातवें आचार्य हुए। इनका जन्म संवत् १९४८ की माघ शुक्ला पूर्णिमा के दिन धवा गाँव में हुआ। इनकी माता का नाम तीजादे व पिता का नाम अंगराज जी पारिख था। १४ वर्ष की अल्पायु में ही इन्होंने दीक्षा ग्रहण कर ली। दीक्षा के तीन वर्ष बाद ही आचार्य भीखमचन्द जी ने इन्हें आचार्य पद पर आसीन कर दिया। इनमें असाधारण योग्यता, संयमनिष्ठा और अनुशासन की अद्‌भुत क्षमता थी। संवत् १९८५ में इनका स्वर्गवास हुआ।[1]

मुनि श्री कानमल जी महाराज के स्वर्गवास के बाद वि० सं० २००४ में नागौर में श्रमण संघीय प्रान्तमन्त्री, प० र० मुनि श्री मिश्रीमल जी 'मधुकर' बड़े समारोह के साथ आचार्य पद पर आसीन हुए। पर परिस्थितियाँ ऐसी निर्मित हुई कि इन्होंने आचार्य पद पर न रहने का निर्णय किया। वि० सं० २००९ में सादड़ी (मारवाड़) में अखिल भारतीय स्थानकवासी मुनियों का वृहत् सम्मेलन हुआ। जिसके सर्वसम्मत निर्णय से अन्य सम्प्रदायों के साथ इस सम्प्रदाय का भी श्रमण संघ में विलीनीकरण हो गया। इस श्रमण संघ के वर्तमान आचार्य श्री आनन्द ऋषि जी महाराज हैं।

जन-सम्पर्क एवं धर्म-प्रचार

आचार्य जयमल्लजी अपने समय के महान् सन्तों में से थे। इनका राज-वर्ग एवं सामान्य वर्ग दोनों से ही अच्छा सम्पर्क था। अपनी साधनाशक्ति ओजस्विनी वाणी द्वारा इन्होंने कई राजाओं को आखेटचर्या में होने वाली हिंसा से मुक्त किया और उनमें से कइयों को अपना सुदृढ़ अनुयायी बना लिया।

महाराजाओं में जोधपुर-नरेश अभयसिंह जी जिनका शासनकाल संवत् १७८१ से संवत् १८१७ तक रहा[2]। इनसे बहुत प्रभावित थे। जब जयमल्ल जी महाराज पीपाड़ में स्थिरता कर रहे थे, तब इनकी गौरव गाथा सुनकर महाराजा ने अपने दीवान रत्नसिंह भण्डारी को भेजकर इनको जोधपुर पधारने की विनती करवाई थी। जब आप जोधपुर पधारे तब महाराज अपने

---

१. उपर्युक्त सभी आचार्यों के बारे में एक विशेष बात यह रही कि सभी या तो अविवाहित थे या वाग्दान होने पर मुनि दीक्षा ग्रहण कर ली थी।

२. डा० हीराचन्द गौरीशंकर ओझा : जोधपुर राज्य का इतिहास, द्वितीय खण्ड

सरदारों एवं रानियों के साथ दर्शन करने आये[1]। यहीं नहीं संवत् १७९१ में जब ये दिल्ली विराज रहे थे तब जोधपुर नरेश भी इनकी यशोगाथा से इतने प्रभावित हुए थे कि उन्होंने शाहजादे को भी यह शुभ सन्देश सुनाया। शाहजादे के हृदय में मुनि-दर्शन की इच्छा बलवती हुई। उसने इनके दर्शन किये व अपने हिंसा-अहिंसा विषयक अनेक प्रश्नों का समाधान पाया। इसके बाद उन्होंने निरपराध प्राणियों का वध न करने की प्रतिज्ञा की[2]। जोधपुर नरेश के साथ ही कविवर करणीदान जी[3] ने भी इनके दर्शन किये थे[4]।

महान व्यक्तियों को अपने जीवन काल में अनेक परीषह एवं कष्ट सहन करने पड़ते हैं। इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं—ईसा, महात्मा-गांधी आदि। आचार्य जयमल्लजी को भी अनेक स्थानों पर, जहाँ वे धर्म प्रचार करने गये, कई असुविधाओं का सामना करना पड़ा। जैसलमेर में पधारने पर वहाँ कुछ विरोधियों ने इनकी मूर्ति बनवाकर उस पर धूल उछाली। यह समाचार सुनकर आपने मुस्कराकर कहा—"मेरे कर्म धुल रहे हैं।" यह है आपकी दयालुता एवं सहनशीलता। आपके सहनशील व्यक्तित्व से प्रभावित होकर वहाँ के राजा ने अपने किले में इनका सम्मान एवं सत्कार किया और साधुचर्या की जानकारी पाकर प्रसन्नता व्यक्त की। इन्होंने अपने ग्रन्थ भण्डार भी इन्हें बतलाये।[5]

आचार्य जयमल्लजी ने धर्म-प्रचार करते हुए अपने नये क्षेत्र भी बनाये। बीकानेर एक ऐसा ही क्षेत्र था। वहाँ यतियों का अधिक प्रभाव था।

---

१. राज दीवान जोधपुर केरां वन्दन तिणवारी।
आयां धर्म उद्योत हुओ अति पाखण्ड मतिहारी॥

—व्याख्यान नवरत्न माला

२. पूज्य गुणमाला : चौथमल्लजी महाराज पृ० ६९-७६

३. ये कविया शाखा के चारण मेवाड़ के शूलवाड़ा गाँव के रहने वाले थे। इन्होंने "सूरजप्रकाश" नाम का बड़ा ग्रन्थ लिखा है जिसमें ७५०० छन्द हैं। महाराजा अभयसिंह ने इन्हें लाखपसाव तथा कविराजा की उपाधि दी थी।

४. पूज्य गुणमाला : चौथमल्लजी महाराज पृ० ८२

५. वही : पृ० ८२

"बीकानेर है क्षेत्र जतियों का, नहीं थांरो पग फेर" वहाँ स्थानकवासियों का उस समय कोई प्रभाव नहीं था। सम्भवतः यह पहले ही सन्त थे जिन्होंने बीकानेर में जाकर स्थानकवासी धर्म की ज्योति को प्रज्ज्वलित किया था। इस धर्माभियान में इन्हें अनेक कष्टों का सामना करना पड़ा। आठ दिन तक ये बीकानेर की सीमा से बाहर अनेक असुविधाओं के बीच रहे—

आटो जल भेलो कर आप आरोगे सन्त।
आठ दिवस इम नीसर्‍या छिवं गुन जो धर खंत॥

अन्तिम दिन आपकी श्रद्धालु श्राविका रामकँवरबाई को जब इस घटना का पता लगा तो उसने प्रतिज्ञा की "पूज्य पधार्‍या शहर मांय से जो वहिरे अन्नपानी" तब ही वे भोजन करेंगी। रामकँवर बाई के अतिप्रिय दो पुत्रों ने तत्कालीन बीकानेर-नरेश गजसिंह जी[1] से विशेष आज्ञा-पत्र प्रचारित करवा-कर पूज्य श्री को नगर में प्रवेश करवाया। स्वयं गजसिंह जी जयमल्ल जी के धर्मोपदेश से प्रभावित हुए व एक माह तक इन्हें अपने महल में ठहराया[2]।

आपके व्यक्तित्व एवं चरित्र से कई ठाकुर एवं सरदार भी प्रभावित थे। पीपाड़ से जोधपुर विहार करते समय आप मार्ग का गाँव "बुचकला" में ठहरे। वहाँ के ठाकुर के यहाँ गोचरी गये। ठाकुर की अनुपस्थिति में उसके नौकर ने आहार देने से मना कर दिया। ठाकुर को जब यह पता चला तो उसने क्षमायाचना की, दिन भर आचार्य श्री की सेवा में बैठे रहे। कभी भी आखेट न करने की प्रतिज्ञा ली[3]। इसी प्रकार पोकरण के ठाकुर देवीसिंह जी चांपावत को भी शिकारवृत्ति से विमुख किया[4]। देवगढ़ के जसवन्तराय और देलवाड़ा के राव रघु भी इनका उपदेश सुनकर धर्मानुयायी बन गये[5]।

जयमल्ल जी जैन आगमों के विशिष्ट ज्ञाता थे। एक बार पीपाड़ में एक

---

१. इनका शासन काल संवत् १८०२ से १८४४ तक रहा।
—डा० हीराचन्द गौरीशंकर ओझा : बीकानेर राज्य का इतिहास, भाग—1 पृ० ३२३-५८

२. बीकानेर नरेश रे रुची धर्मरी रेण।
सुल्लभ बोधी ने थयो, सुण्यो पूज्य उपदेश॥
—पूज्य चौथमलजी महाराज : पूज्य गुणमाला, पृ० ६1-६८

३. स्वामीजी चौथमल जी महाराज—पूज्य गुणमाला—६1

४. वही,—७८

५. वही,—1०३

पोतियाबन्ध[1] से आपका शास्त्रार्थ हो गया। उसका कहना था कि इस काल में महावीर ने मुनिवृत्ति का निषेध किया है। आचार्य जयमल्ल जी ने इस शंका का भगवती सूत्र के आधार पर निवारण किया[2]।

स्वर्गवास

काल के क्रूर हाथ महान से महान व्यक्ति को भी नहीं छोड़ते। श्री जयमल्लजी ने ५० वर्ष तक आचार्य पद को सुशोभित किया और गाँव-गाँव, नगर-नगर में विचरण कर धर्म की ज्योति प्रज्वलित की। जीवन के अन्तिम वर्षों में स्वास्थ्य खराब हो जाने से ये रोगाक्रान्त हो गये। १३ वर्ष तक नागौर में ही स्थिरवास करते रहे[3]।

अपने जीवन के अन्तिम क्षणों का आचार्य-प्रवर को पहले से ही आभास हो गया था। फलतः उन्होंने शाश्वत शान्ति लाभ की कामना से एक मास का संथारा[4] स्वीकार किया। वि० संवत् १८५३ की वैशाख शुक्ला चतुर्दशी की पुण्य-वेला में आपने अपने नश्वर शरीर का उत्सर्ग किया और मरुभूमि की उस धर्म प्राण जनता को, सरस मानस को अपने वियोग से सहसा ही मरुभूमि जैसा उजाड़ बना दिया।

इस प्रकार यह महान् विभूति जो यौवन की चढ़ती दुपहरी में साधना के मार्ग पर कदम बढ़ाकर चली थी, वह उसी श्रद्धा, निष्ठा और अडिग मनोबल के साथ जीवन की सान्ध्य-वेला तक निरन्तर जागरूक एवं उत्साहपूर्वक अपने लक्ष्य को निकट करती हुई, एक दिन अपनी साधना की पूर्णाहुति कर, इस नश्वर देह को त्याग चली[5]।

---

१. १६वीं शताब्दी से पोतिया-बन्ध की एक परम्परा चली है। ये श्रावक होते हैं पर साधु के समान उपाश्रयों में बैठकर शास्त्र का पठन-पाठन करते हैं। घरों से भिक्षा लाते हैं, खुले सिर और नंगे पाँव चलते हैं।

—पोतियाबन्ध परम्परा पर एक दृष्टि : गजेन्द्र मुनि जिनवाणी प० १६७-२००

२. पूज्य चौथमलजी महाराज : पूज्य गुणमाला,—५८-६०

३. बरस बावन बीत्यां पिछे रह्या आप इक ठोर।
तेरे बरस तक पूज्य जी नीको शहर नागौर॥

—चौथमलजी—नव व्याख्यान माला—२५

४. मृत्युपर्यन्त अन्न जल ग्रहण नहीं करना।

५. श्री मधुकर मुनिः ज्योतिर्धर जय—३७

व्यक्तित्व

जयमल्लजी का व्यक्तित्व बहुमुखी था। उनका हृदय नवनीत सा कोमल, फूलों सा सौरभ-मय एवं द्राक्षा सा मधुर था। उनके निर्मल मन में दया की शीतल तरंगें प्रतिपल तरंगित होती रहती थीं। दूसरे के दुख को देखकर उनका हृदय बर्फ के समान पिघल जाता था[1]।

उनका हृदय संकल्प में वज्र के समान कठोर था। मात्र सुदर्शन सेठ की कथा सुनने से ही वे दीक्षा अंगीकार करने के लिए कृतसंकल्प हो गये थे। इतने कठोर संकल्प को उन्होंने सभी पारिवारिक एवं सामाजिक बाधाओं के आने पर भी पूर्ण कर दिखाया। उनका व्यक्तित्व चट्टान के समान अडिग एवं सत्य के प्रति अनन्य आस्था लिए हुए था।

उनके हृदय में सागर-सी गम्भीरता एवं विशालता थी। उनका हृदय अत्यधिक उदार था। हस्तलेखन के उस युग में स्वयं ने हाथ से लिखा सम्पूर्ण 'भगवती सूत्र' साध्वियों को सहर्ष दे देना, उनके उदार हृदय की एक विरल झलक है।

जयमल्लजी स्पष्ट वक्ता भी थे। वे समय पर उपदेश एवं हित-शिक्षा देने में कभी भी नहीं चूकते थे।

एक बार का प्रसंग है कि जोधपुर नरेश बख्तावर सिंह जी आचार्य श्री की सेवा में उपदेश सुनने आये थे। क्षत्रिय होने के कारण शिकार का व्यसन तो उनमें जन्मजात था ही, किन्तु अन्य व्यसन भी थे, जिसके कारण प्रजा के हृदय में उनके प्रति कुछ अनादर व्याप्त था, किन्तु भय के कारण राजा को कहे कौन ? म्यांऊ के मुँह घण्टी कौन बांधे ?

आचार्य श्री के दर्शन करने महाराज बख्तावर सिंह जी जब आये तो स्पष्टवक्ता एवं वाणी के वर्चस्वी आचार्यश्री ने कवित्व की सांकेतिक भाषा में उपदेश देते हुए निम्न पद्य कहे—

सब पर करुणा समान राखे
वह महीपति है नीति साखे,
पर तुम 'नृप पद' पाया रे
ध्रुव पद विसरीजै ॥३॥

---

१. मुनि श्री मिश्रीमल जी 'मधुकर' : ज्योतिधर जय—१४

नहीं तो न्याय बराबर करता
वनचर निर्भय वन संचरता
न्यायप्रिय कहलाया रे
सब ही सम गिनीजै ॥४॥

राजा को 'महीपति' कहा जाता है, अर्थात् पृथ्वी का स्वामी और 'नरपति' कहा जाता है—अर्थात् समस्त मनुष्यों का रक्षक। जो राजा समस्त पृथ्वी का पालक और मनुष्यों का रक्षक कहलाता है, उसमें यदि कोई एक भी दुर्गुण हो तो वह उस पद के योग्य कैसे कहा जा सकता है ? सुन्दर शरीर में एक फोड़ा हो जाने पर भी वह पीड़ा से व्यथित होता रहता है, उसी प्रकार राजा में एक भी दुर्गुण होने पर प्रजा रूप शरीर में शांति कैसे सुरक्षित रह सकती है ?

राजा यदि शिकारी हो तो जंगल के वनचरों का जीवन असुरक्षित रहता है, राजा यदि परस्त्री का व्यसनी हो तो नगर की कुलस्त्रियों का मन भयभीत रहता है—"ऐसी स्थिति में वह न तो 'महीपति' पद के योग्य हो सकता है और न 'नरपति' पद के।"

आचार्य श्री का यह सांकेतिक किन्तु निर्भीकतापूर्ण उपदेश सुनकर बख्तावर सिंह जी ने दोनों ही दुर्गुणों का परित्याग कर दिया।[१]

आचार्य श्री सत्य के अन्वेषक थे। उन्हें झूठे आडम्बर से बड़ी घृणा थी। जो लोग केवल भक्ति और भावना की झूठी बातें बनाते, पूज्य श्री बड़ी निर्भीकता के साथ उनकी इस आडम्बरप्रिय वृत्ति पर चोट करते।

जयमल्लजी कठोर तपस्वी एवं कष्टसहिष्णु थे। अपने सम्पूर्ण जीवन में कठोर तपःसाधना करते रहे। उन्होंने आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन किया था। वे एकान्तर तप की साधना करते थे। अपने गुरु महाराज के स्वर्गवास के बाद कभी लेटकर निद्रा नहीं ली। वे संकल्पशक्ति के धनी और धुन के पक्के थे।

---

१. बख्तावर नरवर हर्षाया,
आखज अरु परत्रिय छिटकाया,
वलि कहै सुन गुरु राया रै
करुणा अब कीजै ॥५॥
—पूज्यगुण माला (स्वामी चौथमल जी)

जयमल्ल जी का व्यक्तित्व मधुर एवं प्रभावशाली था। उनकी आँखों में तेज, स्वभाव में सरसता, हृदय में करुणा और वाणी में ओज था। कठोर से कठोर प्राणी भी इनके सम्पर्क में आते ही करुणाशील बन जाता था। ये सच्चे अर्थों में धर्म-पथ के दीप-स्तम्भ थे। बाधाओं को हँसते हुए सहन करना इनका स्वभाव बन गया था।

तपोनिधि "संयम-शुचिता-सार" के रूप में मोह मल्ल के प्रबल विजेता को जो श्रद्धांजली[1] अर्पित की गई है, वह सोलह आने ठीक है। कालजयी यह शूरवीर अपने आप में अद्भुत था। हाथ में क्षमा-खड्ग और शील-सत्य की बरछी लेकर यह ज्ञान के अश्व पर आरूढ़ था।[2]

---

१. प० शोभाचन्द भारिल्ल ; गुणगीतिका—३

२. ह० स्मृति ग्रन्थ : डा० नरेन्द्र भानावत का निबन्ध—१४१

कृतित्व :
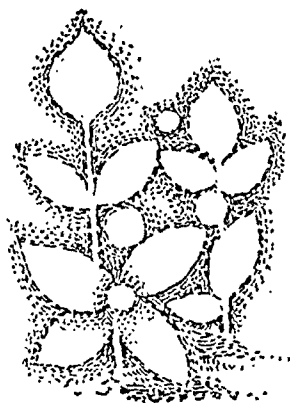
सामान्य परिचय
एवं
साहित्य का वर्गीकरण

"जयवाणी" का यह विभाजन कहीं-कहीं पर समीचीन प्रतीत नहीं होता। कई रचनाएँ ऐसी हैं जो इन चार विभागों में से किसी में भी समाविष्ट नहीं होतीं, उदाहरण के लिए **"चन्द्रगुप्त राजा के सोलह सपने"**, **"गौतम पृच्छा"** **"न सा जाई न सा जोणी"**, **"भविष्यत काल के तीर्थंकर"**, **"नाक"** एवं **'दोहावली"** आदि ले सकते हैं। दूसरी त्रुटि यह है कि **"सज्झाय"** नाम से किये गये वर्ग में एक ही प्रकार और विषय की रचनाएँ संकलित नहीं हैं। "सज्झाय" से सामान्यत: स्वाध्याय का अर्थ लिया जाता है, पर इस "सज्झाय" विभाग में आई हुई कई रचनाएँ इस अर्थ की सूचक नहीं हैं। कई रचनाओं में तात्विक एवं व्यावहारिक उपदेश की प्रधानता है।

हमारी दृष्टि से आचार्य जयमल्लजी की समस्त रचनाओं का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

(१) स्तुतिपरक रचनाएँ,
(२) उपदेशपरक रचनाएँ।

उपदेशपरक रचनाएँ

इसके तीन उपवर्ग किये जा सकते हैं—

(क) तात्विक उपदेशपरक रचनाएँ
(ख) व्यावहारिक उपदेशपरक रचनाएँ
(ग) मिश्रित उपदेशपरक रचनाएँ

(३) चरित्र या आख्यानपरक रचनाएँ
(४) प्रकीर्णक रचनाएँ

(१) स्तुतिपरक रचनाएँ

स्तुतिपरक रचनाओं का सम्बन्ध मुख्यत: श्रद्धेय पुरुषों की स्तुति व स्तवन से है। आचार्य श्री जयमल्लजी ने इन रचनाओं में प्रधानरूप से तीर्थंकरों[1], विहरमानों[2], साधु-साध्वियों आदि की स्तुति की है। तीर्थंकरों में

---

१. आध्यात्मिक विकास के ऊँचे शिखर पर पहुँचने वाले महापुरुषों को जैन-धर्म में तीर्थंकर कहा जाता है।

२. विहरमान वे कहलाते हैं जो इस समय तीर्थंकर हैं और महाविदेह क्षेत्र में विचर रहे हैं।

सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ[1] एवं तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ[2] की स्तुति करने में इनकी वृत्ति अधिक रमी है। विहरमानों में प्रथम विहरमान श्री सीमंधर स्वामी[3] इनके आराध्य रहे हैं। साधु-साध्वियों में जो आदर्श साधु-साध्वी हुए हैं उनका नामोल्लेख कर उनके साधनामय जीवन का गुणगान किया गया है। "चार मंगल" में अरिहन्त, सिद्ध, साधु एवं केवली-प्ररूपित धर्म का माहात्म्य प्रतिपादित किया है।

प्रमुख स्तुतिपरक रचनाओं का विवरण इस प्रकार है—

क्रमांक	रचना-नाम	वर्ण्य-विषय	छन्द संख्या
(१)	चउवीसी स्तवन	२४ तीर्थंकरों का नाम लेकर उनका स्तवन किया है।	६ (१) ५० (२) १६ (३) ४४ (४) १०८
(२)	चार मंगल	अरिहन्त, सिद्ध, साधु एवं केवली प्ररूपित धर्म की स्तुति	
(३)	चौंसठ सतियों की सज्झाय	आदर्श चौंसठ सतियों का नाम स्मरण	४२
(४)	पार्श्वनाथ जी का स्तवन	२३ वें तीर्थंकर की स्तुति	२०
(५)	बड़ी साधु वन्दना	अनेक आदर्श साधुओं का गुण कीर्तन	१११
(६)	बीस विहरमानों का स्तवन	बीस विहरमानों का स्मरण-संकीर्तन	९
(७)	,, ,,	,, ,, ,,	६
(८)	शान्ति जिन स्तवन	१६वें तीर्थंकर की स्तुति	२५
(९)	श्री सीमंधरजी का स्तवन	प्रथम विहरमान का गुण-स्मरण	२०

---

१. सर्वार्थ सिद्ध थकी रे, चवी तव देश नगरमां शान्ति हुई।
शान्ति जी नाम दियो सखरो, श्री शान्ति जिनेश्वर शांति करो॥
—जयवाणी ४

२. वधे जिमि अधिकी चन्द्रकला, शुभ लच्छण पड़िया देहे सगला।
रूड़ी रेखा पग पाणी, श्री पास भजो पुरुषादानी॥
—जयवाणी ८

३. देही पाँच से धनुपतणी, हेमवरण उपमा घणी।
सहस आठ लक्षण नामी, सुमरो श्री सीमंधर जी स्वामी॥
—जयवाणी १२

(२) उपदेशपरक रचनाएँ

उपदेशपरक रचनाएँ व्यावहारिक एवं तात्विक उपदेशों से सम्बन्धित हैं। इनमें सदाचार, ज्ञान, दृढ़ सम्यकत्व, धर्म-महिमा क्षमा, धर्म, पाप-परिणाम, वैराग्य, पुण्य आदि के सम्बन्ध में विचार प्रकट किए गए हैं। आत्म कल्याण की ओर अग्रसर करने के लिए कवि ने साधु जीवन की उच्चता का प्रतिपादन किया है—

साधु चिन्तामण रत्नसा, चाले दया रस चाल।
ज्यों ज्यों जतने सेविया, त्यों-त्यों किया निहाल।

यह लोक (संसार) कवि को हटवाडे के मेले के समान लगता है।[1] इस "मिनख-जमारों" को सफल बनाने के लिए आत्मा को ही प्रयत्नशील होना पड़ेगा। मानव इस संसार में बार-बार जन्म लेता एवं मरता है। उसकी स्थिति गेंद के ससान है—

ओ जीव राय ने रंक थयो
बलि नरक निगोद मा बहु रे रह्यो।
रड़वड़ियों जिम गेड़ि-दड़ो
श्री शान्ति जिनेश्वर शान्ति करो।।

कुछ उपदेशी पदों में कवि ने जैन-दर्शन के तात्त्विक सिद्धान्तों को पद्य-बद्ध किया है। ऐसे स्थलों पर पारिभाषिक शब्दावली के प्रयोग के कारण दुर्बोधता आ गई है। ऐसी रचनाओं में **"इरियावही नी सज्भाय"**, **"पंद्रह परमाधर्मी देव"**, **"शल्य छत्तीसी"**, **"जीवा बयालीसी'** आदि के नाम गिनाये जा सकते हैं।

प्रमुख उपदेशपरक रचनाएँ इस प्रकार हैं—

---

१. परदेशी परदेश में किण सूं करे रे स्नेह।
आयां कागद उठ चले, आँधी गिणे न मेह।।

—जयवाणी, ११२

क्रमांक	रचना-नाम	वर्ण्य-विषय	छन्द संख्या
(१४)	न सा जाई न सा जोणी	अनेक योनियों, जिनमें मानव ने जन्म लिया है, बताई है	८२
(१५)	नींद पच्चीसी	मांनव को प्रमाद निद्रा आदि नरक में पहुँचाते हैं अत: इनसे दूर रहना चाहिये	२५
(१६)	पंचम आरा	पाँचवे आरे के दुःखों का वर्णन	१३
(१७)	पन्द्रह परमाधर्मी देव	नरक में दण्ड देने वाले १५ देवों का वर्णन	१७
(१८)	पर्यटन सप्तविंशतिका	मानव अनेक भवों में घूमता हुआ मानव भव में आया है	२०
(१९)	पाप परिणाम	पाप करने का फल	१३
(२०)	पाप-पुण्य फल	पाप एवं पुण्य का परिणाम	१९
(२१)	पुण्य छत्तीसी	पुण्य करने से मानव को स्वर्ग की प्राप्ति होती है। वहाँ उसे कैसा आदर मिलता है, आदि का वर्णन	३६
(२२)	प्राणी	प्राणी को सम्बोधित करके व्यावहारिक वातें बताई हैं।	८
(२३)	वाल प्रतिवोध चौंतीसी	धर्म विना जो वुड्ढे होकर भी जीवन व्यतीत कर रहे हैं उन बालकों को प्रतिबोध दिया है।	३४
(२४)	ब्रह्मचर्य विपयक स्तवन	ब्रह्मचर्य की महिमा	९
(२५)	मिनख जमारो	दुर्लभ मानव जीवन को यों ही बिना धर्म किये व्यतीत मत करो	११

(२६)	मूरख पच्चीसी	संसार की असारता	२५
(२७)	यह जग सपना	संसार की क्षणभंगुरता	११
(२८)	यह मेला	संसार को मेले के समान बताया है	१९
(२९)	विरक्ति पद	सांसारिक ऐश्वर्य से मुक्ति की प्रेरणा दी है	१०
(३०)	वैराग्य पद	सांसारिक ऐश्वर्य से मुक्ति की प्रेरणा दी है	३३
(३१)	वैराग्य	सांसारिक ऐश्वर्य से मुक्ति की प्रेरणा दी है	२१
(३२)	वैराग्य बत्तीसी[1]	सांसारिक ऐश्वर्य से मुक्ति की प्रेरणा दी है	३४
(३३)	शिक्षा पद	व्यावहारिक ज्ञान की शिक्षा दी गई है	७
(३४)	शिक्षा पद	मानव को चेतावनी दी है कि बुढ़ापा आने से पहले ही जग जा व दया-धर्म पर आस्था रख	१३
(३५)	श्री शल्य छत्तीसी	मन में कोई शल्य मत रखो, उसका प्रायश्चित कर लो	३६
(३६)	साधु-चर्या	साधुओं की दैनिक चर्या एवं उनके गुण बताये हैं	४३
(३७)	क्षमा-धर्म	क्षमा-धर्म प्रमुख धर्म है, इसकी महिमा बताई गई है	८९

१—रचना का नाम "वैराग्य बत्तीसी" है पर छन्द संख्या ३४ है ।

(३) चरित या आख्यानपरक रचनाएँ

ये रचनाएँ किसी न किसी आदर्श महापुरुष के जीवन-प्रसंगों से संबंधित हैं। ये स्तवन प्रधान व उपदेश-प्रधान रचनाओं की भाँति मुक्तक रूप में न लिखी जाकर प्रवंध रूप में लिखी गई हैं। यह प्रबन्ध रूप महाकाव्य का सा विशाल आकार नहीं ग्रहण कर सका है। कवित्व की दृष्टि से मार्मिक स्थलों को स्फोट नहीं किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि उसमें कथा कहने की अधीरता ही अधिक दृष्टिगोचर होती है। यही कारण है कि इन कथाओं में इतिवृत्त का अंश ही अधिक है।

प्रत्येक कथा का अंतिम उद्देश्य निवार्ण-प्राप्ति ही है। इन कथाओं का नायक सामान्यत: उच्चकुलोत्पन्न राजकुमार है। विवाह से पूर्व या बाद में उसे संसार से विरक्ति होने लगती है। विरक्ति का कारण किसी साधु का सम्पर्क, सत्संग या अन्य कोई मर्मस्पर्शी घटना का होना होता है। माता-पिता उसके मार्ग में कोई न कोई बाधा उत्पन्न करते हैं किन्तु वह विचलित नहीं होता और साधु-जीवन अंगीकार कर लेता है। साधु-जीवन में भी उसे अनेक कष्टों का सामना करना पड़ता है, किन्तु, वह कष्ट-जयी होकर अन्त में केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष का अधिकारी वनता है।

काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण के अनुसार कार्य की पांचों अवस्थाएँ किसी न किसी रूप में इन कथाओं में देखी जा सकती हैं। कथा के विकास में कथानक रूढ़ियां भी यहां प्रयुक्त हुई हैं। वर्णनों की ओर भी कवि का झुकाव रहा है। इन वर्णनों में प्रमुख वर्णन हैं—नगर वर्णन, वैभव वर्णन, रूप वर्णन, विवाह वर्णन, दहेज वर्णन, दीक्षा वर्णन आदि। इन वर्णनों से ही इन चरित काव्यों में प्रवंध काव्योचित उठान एवं विस्तार आ पाया है।

प्रमुख चरित या आख्यानपरक रचनाएँ इस प्रकार हैं—

क्रमांक	रचना नाम	प्रेरणा स्रोत	ढाल संख्या
(१)	अर्जुन माली	अन्तगढ़ सूत्र	६
(२)	उदायी राजा	भगवती सूत्र	६
(३)	कार्तिक सेठ	,, ,,	५
(४)	तेतली पुत्र	ज्ञाता सूत्र	१०
(५)	दारिद्र्य-लक्ष्मी संवाद	कल्पना प्रसूत	२
(६)	देवदत्ता	दुःखविपाक सूत्र	५

(७)	प्रदेशी राजा	राजप्रश्नीय सूत्र	३१
(८)	महारानी देवकी	अन्तगड़ सूत्र	२६
(९)	मेघकुमार	ज्ञाता सूत्र	१६
(१०)	भगवान नेमिनाथ	उत्तराध्ययन सूत्र	३३
(११)	भृगु पुरोहित	,, ,,	६
(१२)	श्रावक महाशतक	उत्तराध्ययन सूत्र	४
(१३)	सती द्रौपदी	ज्ञाता सूत्र	२८
(१४)	सद्दाल पुत्र	उपासकदशा सूत्र	११
(१५)	स्कंदक ऋषि	प्रचलित कथा	८
(१६)	सुबाहु कुमार	सुखविपाक सूत्र	८

कुछ चरित्रपरक रचनाएँ हस्तलिखित प्रतियों के रूप में प्राप्त हुई हैं जो इस प्रकार हैं[1]—

क्रमांक	रचना नाम	प्रेरणा-स्रोत	ढाल संख्या
(१)	अम्बड़ सन्यासी की सज्झाय	उवाई सूत्र	३
(२)	मृगालोढ़ा का चरित्र		८

(४) प्रकीर्णक रचनाएं

इस वर्ग में वे रचनाएँ समाविष्ट की जा सकती हैं जो उपर्युक्त तीन वर्गों में से किसी में भी नहीं आतीं। ये रचनाएँ इस प्रकार हैं—

क्रमांक	रचना-नाम	वर्ण्य-विषय	छन्द संख्या
(१)	गौतम पृच्छा	गौतम द्वारा भगवान महावीर से प्रश्न पूछे गये हैं।	११
(२)	,, ,,	गौतम द्वारा भगवान महावीर से प्रश्न पूछे गये हैं।	१७

---

१. ये रचनाएँ आचार्य विनयचन्द्र ज्ञान भंडार, जयपुर में सुरक्षित हैं। इन्हें इस ग्रन्थ के परिशिष्ट में संकलित किया गया है।

क्रमांक	रचना-नाम	वर्ण्य-विषय	छन्द संख्या
(३)	चन्द्रगुप्त राजा के सोलह सपने	राजा के सोलह सपनों से भविष्य में होने वाले परिणाम बताये गये हैं।	५४
(४)	चर्चा	मूर्ति विषयक विचार	४५
(५)	दोहावली	भिन्न-भिन्न विषयों पर दोहे	५२
(६)	नाक	"नाक रखना" मुहावरे को समझाया गया है।	१६
(७)	भविष्यत्काल के तीर्थंकर	भावी २४ तीर्थंकरों का वर्णन	१५
(८)	श्री कृष्ण जी नी ऋद्धि	कृष्ण के ऐश्वर्य का वर्णन	६३

आगे के पृष्ठों में इन रचनाओं का विस्तृत अध्ययन एवं मूल्यांकन प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

साहित्यिक अध्ययन

तृतीय अध्याय
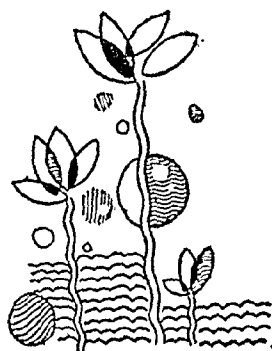
साहित्यिक अध्ययन

कहा जाता है—"कवि बनते नहीं, जन्मते हैं।" सूर, तुलसी आदि सभी बड़े-बड़े कवि जन्म से ही कवि-हृदय लेकर पैदा हुए थे, इसी कारण उनके काव्य में जो सहजता, मार्मिकता, हृदय की गहराई एवं भावों की श्रेष्ठता मिलती है, वह श्लाघनीय है। हमारे आलोच्य कवि जयमल्लजी भी जन्मजात कवि थे। जन्म से ही उनमें कवि-हृदय विद्यमान था। इसीलिए उनकी कविताओं में सहजता, मार्मिकता और निश्छल उपदेश प्रवणता के दर्शन स्थान-स्थान पर होते हैं।

आलोच्य कवि का काल हिन्दी साहित्य के इतिहास की दृष्टि से रीति-काल आता है। ये रीति-कालीन कवि पद्माकर के समकालीन थे। रीतिकाल में रचा जा रहा साहित्य एक बँधी-बँधाई लीक पर चल रहा था। आचार्य कवि पहले कविता का लक्षण बताकर आचार्य-धर्म का पालन करते, तदनन्तर कवि-कर्म की पूर्ति करने के लिए कविता रचते थे। इन कवियों के साहित्य में भावपक्ष की अपेक्षा कलापक्ष प्रधान था। पर कवि जयमल्लजी इस बँधी-बँधाई परिपाटी में बंधकर नहीं चले। उन्होंने रीतिकाल की वासनात्मक शृंगारधारा को भक्ति की प्रशान्त पावन साधनात्मक एवं तात्विक धारा की ओर मोड़ा। इसमें कुछ अंश उपदेश-वृत्ति का भी रहा। इस प्रकार सन्त कवि उस काल की दूषित मनोवृत्ति से रंचमात्र भी प्रभावित नहीं हुए।

सन्त कवि जयमल्लजी की अधिकांश रचनाएँ मुनि श्री मिश्रीमल 'मधुकर' द्वारा सम्पादित पुस्तक "जयवाणी" में संग्रहीत है। यहाँ उनका विश्लेपणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है :

१. स्तुतिपरक रचनाएँ

काव्य के प्रारम्भ में मंगलाचरण या ईश्वर की स्तुति करने की एक प्राचीन परम्परा रही है।

आराध्य के गुणों की प्रशंसा करना ही स्तुति है। लोक में अतिशयोक्ति-पूर्ण प्रशंसा को ही स्तुति कहते हैं, किन्तु यह परिभाषा भगवान पर घटित नहीं

होती। भगवान में अनन्त गुण हैं। उनमें से एक का वर्णन हो पाना भी अशक्य है, फिर अतिशयोक्ति कैसे हो सकती है ?[1]

जैन कवि भगवान की स्तुति इसलिए नहीं करते कि वे सामन्तवादी राजा के समान प्रसन्न होकर उपहार बांटे। उनकी वीतरागता उन्हें ऐसा करने से रोकती है। वे अपने काव्य के प्रारम्भ में आराध्य की स्तुति इसलिए करते हैं कि आराध्य के गुणों के स्मरण से उन्हें आत्म-जागृति की प्रेरणा मिले।

स्तुति का ही एक नाम मंगलाचरण है। मंगलाचरण शब्द मंगल एवं आचरण इन दो शब्दों से मिलकर बना है। ऐसा आचरण जिसमें आत्मा का मल हट जाए और परम सुख का अनुभव होने लगे। मंगल प्रयोजन पर विचार करते हुए आचार्य यतिवृषभ ने लिखा है "शास्त्र के आदि में मंगल के पढ़ने से शिष्य-शास्त्र के पारगामी होते हैं।" शास्त्र के आदि, अन्त एवं मध्य में किया गया मंगल सम्पूर्ण विघ्नों को उसी प्रकार नष्ट कर देता है जैसे सूर्य अन्धकार को।

जैनियों का प्राचीनतम मंगलाचरण **"णमो अरिहन्ताणं"** है। प्रत्येक कार्य को प्रारम्भ करने से पूर्व यह बोला जाता है। यहाँ तक भी देखा गया है कि धार्मिक पुरुष एवं स्त्रियाँ खाना खाने से पूर्व भी इसे बोलती हैं। कवि ने चार 'मंगल' नाम से एक रचना भी की है। यह मंगलाचरण इस प्रकार है—

णमो अरिहन्ताणं,

णमो सिद्धाणं

णमो आयरियाणं

णमो उवज्झायाणं

णमो लोए सव्व साहूणं ॥[2]

स्तुतिपरक रचनाओं में कवि ने प्रसिद्ध आराध्य योग्य व्यक्तियों की स्तुति की है। यह स्तुति दो प्रकार से की गई है :

(१) व्यक्ति प्रधान स्तुति
(२) संस्था प्रधान स्तुति।

---

1. डा० प्रेमसागर जैन, जैन भक्ति काव्य की पृष्ठ भूमि पृ० २८-२९
२. अरिहन्तों को नमस्कार, सिद्धों को नमस्कार, आचार्यों को नमस्कार, उपाध्यायों को नमस्कार और लोक में सर्व साधुओं को नमस्कार।

व्यक्तिप्रधान स्तुति में तीर्थंकर, विहरमान, सतियों आदि की स्तुति की गई हैं। संस्थाप्रधान स्तुतिपरक रचनाओं में प्रमुखतया अरिहन्त, सिद्ध, साधु (सामान्य साधुओं की विशेषताएँ) एवं केवली प्ररूपित धर्म की स्तुति की गई है।

इन रचनाओं के अवश्य ही कोई प्रेरणा-स्रोत रहे होंगे। प्रत्येक कवि कविता-कर्म में प्रवृत्त होने से पूर्व कुछ न कुछ प्रेरणा अनुभव करता है। हमारे आलोच्य कवि के भी कुछ प्रेरणास्रोत अवश्य ही रहे होंगे। जैन साधु अनेक स्थानों पर विचरण करते हैं एवं विविध जनों से सम्पर्क रखते हैं, अतः उनका ज्ञान वहुश्रुत होता है। संभव है इन रचनाओं को रचने की प्रेरणा भी इसी प्रकार मिली हो। इन सन्त कवियों का अध्ययन वहुत गहन होता था। जैन दर्शन, आगम अनेक सूत्रों, शास्त्रों आदि का ये अध्ययन करते थे। स्तुत्य जनों का वर्णन भी इन ग्रंथों में आ जाता है। कवि ने इस व्यापक अध्ययन के फलस्वरूप ही इन रचनाओं का प्रणयन किया।

कवि ने प्रारम्भ में तीर्थंकर[१] विहरमान, सतियों, साधु-साध्वियों आदि की स्तुति की है। तीर्थंकर २४ माने गये हैं, उनमें से कवि ने सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ जी का एवं तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ जी का स्मरण विशेषरूप से किया है।

---

१ तीर्थंकर २४ माने गए हैं जो इस प्रकार हैं—

(१) ऋषभदेव जी	(१३) विमलनाथ जी
(२) अजितनाथ जी	(१४) अनन्तनाथ जी
(३) संभवनाथ जी	(१५) धर्मनाथ जी
(४) अभिनन्द जी	(१६) शान्तिनाथ जी
(५) सुमतिनाथ थी	(१७) कुन्थुनाथ जी
(६) पद्मप्रभु जी	(१७) अरहनाथ जी
(७) सुपार्श्वनाथ जी	(१६) मल्लिनाथ जी
(८) चन्द्रप्रभु जी	(२०) मुनिसुव्रतस्वामी जी
(६) सुविधिनाथ जी	(२१) नेमिनाथ जी
(१०) शीतलनाथ जी	(२२) अरिष्टनेमि जी
(११) श्रेयांसनाथ जी	(२३) पार्श्वनाथ जी
(१२) वासुपूज्य जी	(२४) महावीर स्वामी जी

विहरमान[1] बीस माने गये हैं। इनमें प्रथम विहरमान श्री सीमंधर स्वामी की स्तुति विशेष रूप से की गई है।

इन स्तुतिपरक रचनाओं में कवि की एक ही शैली रही है। २४ तीर्थंकरों की सामूहिक स्तुति में नाम-स्मरण मात्र ही किया गया है, अन्त में इनके स्मरण से प्राप्त होने वाले लाभ की ओर कवि इंगित करता है :

ए चउवीसी जिनवर तणा,
ध्यावे हितकर नाम।
रिख 'जयमल्ल' इम बीनवे,
पामे अविचल धाम ॥[2]

कवि को ऐश्वर्य, धन एवं ऋद्धि की चाह नहीं है। वह केवल इस भव-सागर को पारकर 'अविचल धाम' में लीन होना चाहता है।

तीर्थंकरों एवं विहरमानों की स्तुति करते समय कवि ने जिस वर्णन-रूढ़ियों का प्रयोग किया है, वे इस प्रकार हैं—

(१) जन्म स्थल का नाम
(२) कौन से भव से चलकर आये हैं
(३) नाम देने का कारण
(४) माता-पिता आदि का नाम
(५) जन्मोत्सव का वर्णन

---

१. बीस विहरमानों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) श्री सीमंधर स्वामी (२) श्री युगमंधरस्वामी
(३) श्री बाहुस्वामी (४) श्री सुबाहुस्वामी
(५) श्री सुजातस्वामी (६) श्री स्वयंप्रभु स्वामी
(७) श्री ऋषभानन स्वामी (८) श्री अनन्तवीर्य स्वामी
(९) श्री सूरप्रभु स्वामी (१०) श्री विशालधर स्वामी
(११) श्री व्रजधर स्वामी (१२) श्री चन्द्राननस्वामी
(१३) श्री चन्द्रबाहु स्वामी (१४) श्री भुजंग स्वामी
(१५) श्री ईश्वर स्वामी (१६) श्री नेमिप्रभु स्वामी
(१७) श्री वीरसेन स्वामी (१८) श्री महाभद्र स्वामी
(१९) श्री देवयशस्वामी (२०) श्री अजितवीर्य स्वामी

२. जयवाणी, ३

(६) शिक्षा कैसी पाई
(७) राज्य कितने समय तक किया
(८) दीक्षा-वर्णन
(९) शिष्य-परम्परा
(१०) शारीरिक सौन्दर्य का वर्णन
(११) संथारा वर्णन[1]
(१२) इनका लक्षण (चिन्ह) जैसे शान्तिनाथ का लक्षण मृग है।
(१३) नाम-स्मरण का महत्व आदि।

यद्यपि ये वर्णन बहुत संक्षिप्त हैं फिर भी इनमें प्रबंधत्व का आभास होने लगता है। इन स्तुतिपरक रचनाओं में कवि ने आराध्य के चरित्र-वर्णन के साथ ही भक्ति को भी समाहित कर लिया है। सामान्यतः चरित्र की महिमा तो सभी जगह गाई गई है, किन्तु वहाँ उसे भक्ति से नितान्त पृथक माना है, पर यहाँ चरित्र की भी भक्ति की गई है। चरित्र और भक्ति का ऐसा समन्वय अन्यत्र दुर्लभ है। यह वह भक्ति है, जिसका सम्बन्ध एक और वाह्य संसार से है, तो दूसरी ओर आत्मा से।[2]

'शान्तिजिनस्तवन', पार्श्वनाथ जी का स्तवन' "श्री सीमंधर जी का स्तवन" आदि में उपर्युक्त सभी वर्णनों को देखा जा सकता है।

कवि शान्तिनाथ के नामकरण का कारण बताते हुए कहता है—

सर्वार्थ सिद्ध थकी रे चवी,
तब देश नगरमां शान्ति हुई।
शान्ती जी नाम दियो सखरो।
श्री शान्ति जिनेश्वर शान्ति करो ॥

जन्मोपरान्त होने वाले उत्सव का भी कवि ने संकेत किया है—

छपन कुमारिका उल्लास घणो,
जेणे जन्मोच्छव कियो कुमर तणो
चोंसठ इन्द्र आवि कलश भरो,
श्री शान्ति जिनेश्वर शांति करो!

---

१. मृत्युपर्यन्त अन्न-जल का त्याग
२. डा० प्रेमसागर जैन : जैन भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि —१२

धीरे-धीरे शांतिनाथ जी की वय बढ़ती जाती है। चौंसठ कलाओं में वे प्रवीण हो जाते हैं, तदनन्तर अनेक राजकुमारियों के साथ उनका विवाह होता है। कुछ समय तक ऐश्वर्य भोगते हुए वे राज्य करते हैं। तदनन्तर उन्हें वैराग्य हो जाता है और वे दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं। कवि दीक्षा का वर्णन करते हुए कहते हैं—

एक सहस पुरुष साथे शिक्षा
श्री जिनवर जी लीनी दीक्षा।

पूर्वभव में शांतिनाथ जी मेघरथ राजा थे। इनके बारे में भी दानवीर शिवि जैसी घटना प्रसिद्ध है।

कहीं-कहीं पर कवि की कल्पना बड़ी सुन्दर बन पड़ी है, यथा—

चालीस धनुष ऊँचो रे देहो
वलि हेमवरणो उपमा रे कही।
दीठे दिल दरियाव ठरो
श्री शांति जिनेश्वर शान्ति करो॥

कवि शांतिनाथ जी के शारीरिक सौन्दर्य का ऐसा वर्णन करता है जिससे पाठक के सम्मुख पढ़ते समय एक चित्र सा खिंच जाता है। "दीठे दिल दरियाव ठरो" कहते ही उनका तरल व्यक्तित्व हिलोरें लेने लगता है। समुद्र की सी पवित्रता, शीतलता, गंभीरता सभी उनके हृदय में जैसे समाहित हो गई हों।

मनुष्य जन्म दुर्लभ है। यह मानव अनेक भवों में गेंद के समान घूमता हुआ[1] इस दुर्लभ एवं मूल्यवान मानव भव में पैदा हुआ है अतः इस जन्म को यों ही समाप्त नहीं कर देना चाहिए। इस भवसागर को पार करना दुरन्त कार्य है। अतः कवि ने आराध्यदेवों के नाम-स्मरण पर जोर दिया है। रचना के अन्त से नाम-स्मरण का महत्व भी बतलाया गया है :—

तुम नाम लिया सब काज सरे,
तुम नामे मुगति महल मले।

---

१. ओ जीव राय ने रंक थयो,
वलि नरक निगोदमां बहू रे रह्यो।
रड़वड़ियो जिम गेड़ि दड़ो,
श्री शांति जिनेश्वर शांति करो॥

तुम नामे सुभ भंडार भरो
श्री शान्ति जिनेश्वर शांति करो ॥

अन्य रचनाओं के अन्त में भी ऐसे ही भाव व्यक्त किये हैं।[1]

"बड़ी साधु वन्दना"[2] नाम से कवि ने एक रचना की है इसमें अनेक आदर्श साधुओं का नाम-स्मरण किया गया है।

चौंसठ आदर्श सतियों का स्तवन भी कवि ने किया है।

संस्थापरक स्तुतियों में किसी व्यक्ति विशेष का नाम लेकर स्तुति नहीं की गई है, अपितु इन व्यक्तियों की स्तुति की गई है जो अपने आदर्श गुणों के कारण व्यक्ति से संस्था बन गए हैं, यथा अरिहन्त, सिद्ध, साधु एवं केवली प्ररूपित धर्म। 'चार मंगल'[3] एक ही ऐसी रचना है जिसमें कवि ने अरिहन्त, सिद्ध, साधु एवं धर्म की स्तुति की है।

---

१. (क) ए चउवीसी जिनवर तणा
ध्यावे हितकर नाम।
रिख "जयमल्ल" इम वीनवे
पामे अविचल धाम ॥

—जयवाणी—३

(ख) श्री पास तणो शुद्ध नाम जपै
ज्यारा कर्म कट जावे आफांणी।

—जयवाणी—१०

(ग) तुम नामे दुःख दोहग टले
तुम नामे सुगति सुख मिले।

—जयवाणी—१०

(घ) इण यतियों सतियों ना, लीजै नित प्रति नाम।
शुद्ध मनथी ध्यावो, एह तिरण नो ठाम ॥

—जयवाणी—२२

२. साधु वन्दनाएँ आकार के अनुसार तीन मानी गई हैं :—
१. बड़ी साधु वन्दना २. छोटी साधु वन्दना
३. सबसे छोटी साधु वन्दना

३. यों मंगल एक प्रकार का काव्य रूप है पर यह मंगल विवाह मंगल से भिन्न है। ये मंगल लोक में उत्तम एवं शरण देने वाले हैं।

प्रथम मंगल में अरिहन्त[1] की स्तुति की गई है। प्रत्येक व्यक्ति अरिहन्त पद को प्राप्त कर सकता है यदि वह चार प्रकार के कर्मों—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एवं अन्तराय का नाश कर दे। साधु एवं तीर्थंकर दोनों ही अरिहन्त होते हैं। तीर्थंकरों के ३४ अतिशय[2] और उनकी वाणी की पेंतीस विशेषताएँ[3] बतलाई गई हैं।

---

१. ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एवं अन्तराय रूप चार सर्वघाती कर्म शत्रुओं का नाश करने वाले महापुरुष अरिहन्त कहलाते हैं।

२. (१) तीर्थंकर देव के मस्तक और दाढ़ी मूंछ के बाल बढ़ते नहीं हैं। उनके शरीर के रोम और नख सदा अवस्थित रहते हैं।

(२) उनका शरीर स्वस्थ एवं निर्मल रहता है।

(३) शरीर में रक्त माँस गाय के दूध की तरह श्वेत होते हैं।

(४) उनके श्वासोच्छ्वास में पद्म एवं नीलकमल की अथवा पद्मक तथा उत्पलकुष्ट (गन्धद्रव्यविशेष) की सुगन्ध आती है।

(५) उनका आहार और निहार (शौच क्रिया) प्रच्छन्न होता है। चर्म चक्षु वालों को दिखाई नहीं देता।

(६) तीर्थंकर देव के आगे आकाश में धर्मचक्र रहता है।

(७) उनके ऊपर तीन छत्र रहते हैं।

(८) उनके दोनों ओर तेजोमय (प्रकाशमय) श्रेष्ठ चंवर रहते हैं।

(९) भगवान् के लिए आकाश के समान स्वच्छ, स्फटिक मणि का बना हुआ पादपीठ वाला सिंहासन होता है।

(१०) तीर्थंकर देव के आगे आकाश में बहुत ऊँचा हजारों छोटी-छोटी पताकाओं से परिमण्डित इन्द्रध्वज चलता है।

(११) जहाँ भगवान ठहरते हैं अथवा बैठते हैं वहाँ पर उसी समय पत्र, पुष्प और पल्लव से शोभित, छत्र, ध्वज, घंटा और पताका सहित अशोक वृक्ष प्रकट होता है।

(१२) भगवान जहाँ विचरते हैं वहाँ का भूभाग बहुत समतल एवं रमणीय हो जाता है।

(१३) भगवान के कुछ पीछे मस्तक के पास अतिभास्वर (देदीप्यमान) भामण्डल रहता है।

(१४) भगवान जहाँ विचरते हैं वहाँ काँटे अधोमुख हो जाते हैं।

(१५) भगवान जहाँ विचरते हैं वहाँ ऋतुएँ सुखस्पर्श वाली यानी अनुकूल हो जाती हैं।

(१६) भगवान जहाँ विचरते हैं वहाँ संवर्तक वायु द्वारा एक योजन पर्यन्त क्षेत्र चारों ओर से शुद्ध साफ हो जाता है।

(१७) भगवान जहाँ विचरते हैं वहाँ मेघ आवश्यकतानुसार बरस कर आकाश एवं पृथ्वी में रही हुई रज को शान्त कर देते हैं।

(१८) भगवान जहाँ विचरते हैं वहाँ जानुप्रमाण देवकृत पुष्प-वृष्टि होती है। फूलों के डंठल सदा नीचे की ओर रहते हैं।

(१९) भगवान जहाँ विचरते हैं वहाँ अमनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध नहीं रहते।

(२०) भगवान जहाँ विचरते हैं वहीं मनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध प्रगट होते हैं।

(२१) देशना देते समय भगवान का स्वर अतिशय हृदयस्पर्शी होता है और एक योजन तक सुनाई देता है।

(२२) तीर्थंकर देव अर्द्धमागधी भाषा में धर्मोपदेश करते हैं।

(२३) उनके मुख से निकली हुई अर्द्धमागधी भाषा में यह विशेषता होती है कि आर्य अनार्य सभी मनुष्य एवं मृग, पशु, पक्षी और सरीसृप जाति के तिर्यंच प्राणी उसे अपनी भाषा समझते हैं और वह उन्हें हितकारी, सुखकारी एवं कल्याणकारी प्रतीत होती है।

(२४) पहले से ही जिनके वैर बँधा हुआ है ऐसे भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक देव प्रभु के चरणों में आकर अपना वैर भूल जाते हैं और शान्तचित्त होकर धर्मोपदेश सुनते हैं।

(२५) तीर्थंकर के पास आकर अन्यतीर्थी भी उन्हें वन्दना करते हैं।

(२६) तीर्थंकर के समीप आते ही अन्यतीर्थी निरुत्तर हो जाते हैं।

जहाँ-जहाँ भी तीर्थंकर देव विहार करते हैं वहाँ पर पच्चीस योजन अर्थात् सौ कोस के अन्दर—

(२७) ईति-चूहे आदि जीवों से धान्यादि का उपद्रव नहीं होता।

(२८) मारी अर्थात् जनसंहारक प्लेग आदि उपद्रव नहीं होते।

(२९) स्वचक्र का भय (स्वराज्य की सेना से उपद्रव) नहीं होता।

(३०) परचक्र का भय (पर राज्य की सेना से उपद्रव) नहीं होता।

(३१) अधिक वर्षा नहीं होती ।

(३२) वर्षा का अभाव नहीं होता ।

(३३) दुर्भिक्ष-दुष्काल नहीं पड़ता है ।

(३४) पूर्वोत्पन्न उत्पात तथा व्याधियाँ भी शान्त हो जाती हैं ।
(समवायांग सूत्र, ३४)

—श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भाग ७ पृ० सं० ६८,७०

३. तीर्थंकर देव की वाणी सत्य वचन के अतिशयों से सम्पन्न होती हैं। सत्यवचन के पैंतीस अतिशय हैं—

(१) संस्कारवत्व
(२) उदातत्व
(३) उपचारापेतत्व
(४) गंभीर शब्दता
(५) अनुनादित्व
(६) दक्षिणत्व
(७) उपनीतरागत्व
(८) महार्थत्व
(९) अव्याहतपौर्वापर्यत्व
(१०) शिष्टत्व
(११) असन्दिग्धत्व
(१२) अपहृतान्योत्तरत्व
(१३) हृदयग्राहित्व
(१४) देशकालाव्यतीतत्व
(१५) तत्वानुरूपत्व
(१६) अप्रकीर्णप्रसृतत्व
(१७) अन्योन्यप्रगृहीतत्व
(१८) अभिजातत्व
(१९) अतिस्निग्ध मधुरत्व
(२०) उदारत्व
(२१) अपरमर्मवेधित्व
(२२) अर्थधर्माभ्यासानपेतत्व
(२३) परनिन्दात्मोत्कर्ष विप्रयुक्तत्व
(२४) उपगतश्लाघत्व
(२५) अनपनीतत्व
(२६) उत्पादिताविच्छिन्नकुतूहलत्व
(२७) अद्भुतत्व
(२८) अनतिविलम्बितत्व
(२९) विमद्रविक्षेपकिलिकिंचितादि राहित्य
(३०) विचित्रत्व
(३१) आहितविशेषत्व
(३२) साकारत्व
(३३) सत्वपरिगृहीतत्व
(३४) अपरिखेदित्व
(३५) अव्युच्छेदित्व

(समवयांग सूत्र ३५ टीका)

वहीं पृ० ७१-७३

इन सब गुणों एवं अतिशयों के कारण कवि अरिहन्त की स्तुति करने में स्वयं को असमर्थ पाता है। उसकी यह असमर्थता इन पंक्तियों में स्पष्ट झलक रही है—

गुण अरिहन्त ना अति घणा ए, किम कहूँ जीभडी एक तो।
पूरा कही ना सके ए, मिले जीभ अनेक तो॥

ऐसे अरिहन्त के स्मरण से सभी विघ्न दूर हो जाते हैं। कवि कितनी दृढ़ता से अपनी बात का प्रतिपादन कर रहा है—

मंगल पहिलो अरिहन्त नो ए भावसूं भणो नरनार तो।
विघन दूरे टले ए, पामिए भव-जल पार तो॥

दूसरा मंगल सिद्धों[1] का है। जैसा कि नाम से ही विदित होता है कि इन्हें आठों कर्मों[2] को क्षय करने के बाद सिद्धि मिल जाती है। ये आवागमन के चक्कर से सर्वथा मुक्त हो जाते हैं।[3] राग-द्वेष को ये जीत चुके होते हैं। केवल ज्ञान एवं केवल दर्शन ये दो ही वस्तु उनके समस्त गुणों को अपने में समाविष्ट कर लेती है।

कवि ने सिद्धों के स्मरण से होने वाले लाभ की ओर इस प्रकार संकेत किया है।

बीजो मंगल शुद्ध मन ध्याइये, मुक्ति तणा दातार जी।
जे भव्य जीव हृदय में धरसी ज्यारौ खेवौ पार जी॥[4]

साधु भी एक मंगल है। साधु के व्यक्तित्व का दिग्दर्शन कवि ने दो ही पंक्तियों में बहुत सुन्दरता से कर दिया है।

---

१. सर्व कर्मों का क्षय करके जो जन्म-मरण रूप संसार से मुक्त हो चुके हैं, उन्हें सिद्ध कहते हैं।

२. (१) ज्ञानावरणीय (२) दर्शनावरणीय
(३) वेदनीय (४) मोहनीय
(५) आयु (६) नाम
(७) गोत्र (८) अन्तराय

३ दगध बीज जिम धरती व्हायां नहिं गेले अंकूर जी।
तिम हीज सिद्ध जी जन्म मरण री करदी उत्पत्ति दूर जी॥
जयवाणी—५८

४ जयवाणी—२७

पाँच महाव्रत[1] पालवेजी, पाले है पंचाचार।[2]
पाँच समिते[3] समिता रहे जी तीनों ही गुप्ति[4] दयाल ॥

ये सम्पूर्ण मोह-माया त्याग कर ग्रामानुग्राम विचरण करते हैं। सब जीवों पर दया रखते हैं। संसार-सागर में रहते हुए भी कमल के समान सांसारिक ऐश्वर्य एवं माया रूपी कीचड़ से निर्लिप्त रहते हैं।

सदा ही काल ऊँचो रहेजो कमल नो फूल जल माहि।
तिम साधु ऊंचा रहेजी, लिप्त संसार में नाहि ॥[5]

कठोर तप करते हुए अपनी देह को ये कंकाल मात्र रहने देते हैं। इनमें किसी भी प्रकार की कामना शेष नहीं रह जाती ऐसे साधुओं के स्मरण-मात्र से ही शान्ति मिलती है।

चौथा एवं अन्तिम मंगल केवली प्ररूपित धर्म[6] है। इस धर्म के प्रमुख अंग चार प्रकार हैं :—

(१) दान
(२) शील

---

१ (१) प्राणातिपात विरमण (२) मृषावाद विरमण
(३) अदत्तादान विरमण (४) मैथुन विरमण
(५) परिग्रह विरमण महाव्रत
—जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भाग १ पृ० ३२१,३२२

२ (१) ज्ञानाचार (२) दर्शनाचार
(३) चारित्राचार (४) तप आचार
(५) वीर्याचार
—वही : पृ० ३३२

३ (१) ईर्या समिति (२) भाषा समिति
(३) एषणा समिति (४) आदान भन्ड मात्र निक्षेपण समिति
(५) उच्चार प्रस्रवण खेल जल्ल सिंघाण परिस्थापनिका समिति।
—वही : पृ० ३३०,३३१

४ (१) मनोगुप्ति (२) वचनगुप्ति
(३) काय गुप्ति
—वही : पृ० ९२

५. जयवाणी—३१

६ पूर्ण ज्ञान सम्पन्न केवली भगवान द्वारा प्ररूपित श्रुत चारित्र रूप धर्म केवलि प्ररूपित धर्म है।
—श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भाग ५, पृ० ९४,९५

(३) तप
(४) भाव

इस केवली प्ररूपित धर्म के मुख्यतः पाँच महाव्रत एवं एक व्रत है—रात्रि भोजन विरमण। साधुओं को इन छहों का पालन करना होता है। कवि ने एक स्थान पर इस धर्म के सम्बन्ध में कहा है :—

झीणो कह्यो केवली ए, उण्डो घणो अथाग।

चारों मंगल के स्मरण का एक साथ लाभ बताते हुए कवि ने कहा है—

मंगल नाम चारों कह्या, भणो सुणो चित्तलाय।
मंगल एक आराधियां, मुक्ति सुखों में जाय॥

इस प्रकार कवि ने व्यक्तिपरक एवं संस्थापरक दोनों ही प्रकार के स्तुति-पुष्प अर्पण किये हैं। पर कवि में कहीं भी भक्त कवियों की सी दीनता, याचना, हीनता एवं भाव-विह्वलता के दर्शन नहीं होते। न तो कवि तुलसी के समान राम के दरबार में अपने हृदय की "विनयपत्रिका" को खोलकर रखता है, न सूर की भाँति अपने आराध्य को चुनौती देता है कि "हौं तो पतित सात पीढ़िन को पतिते ह्वै निस्तरि हौं"। इसका प्रधान कारण कवि का एक सिद्धान्त विशेष में आस्थावान बने रहना है।[1]

२. उपदेशपरक रचनाएँ

सन्त कवि जयमल्लजी के लिए कविता साध्य नहीं थी, अपितु साधन थी। उपदेश प्रधान प्रवृत्ति होने के कारण ही ये कवि कर्म की ओर प्रवृत्त हुए। लोकोत्तर जीवन को सफल बनाने के उद्देश्य से ही इन्होंने मुख्यतः इन उपदेश-परक रचनाओं की रचना की है। इन्हें हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं :

(१) व्यावहारिक उपदेश
(२) तात्विक उपदेश

(१) व्यावहारिक उपदेश

व्यावहारिक उपदेशों में कवि ने हेय बातों को छोड़ने और उपादेय बातों को ग्रहण करने की देशना दी है। हेय बातों में मुख्य है कषाय। यह चार

---

१ मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रन्थ, डा० नरेन्द्र भानावत का लेख, आचार्य जयमल्लजी : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पृ० १४९-१५०

प्रकार का है—क्रोध, मान, माया व लोभ। 'ब्रह्मचर्य विषयक स्तवन' में कवि इन्हें छोड़ने व शील पालने की बात कहता है :

क्रोध, मान, माया लोभ ने त्यागी,
शील पाले नव वाड़ी रे॥

कवि कुसंगत करने के लिए मना करता है। कुबुद्धि लोगों का साथ अहितकारी होता है अतः उनका साथ छोड़कर शील और समता के भावों का पालन करना चाहिये :—

समता भावे शीलज पीले,
कुबुद्धि संग निबारी रे।

पंच—महाव्रत एवं सम्यकत्व को ग्रहण करने के लिए कवि का उद्‌बोधन है।

समकित ने चोखो आराधै
पंच महाव्रत धारी रे।

मानव को क्रोध नहीं करना चाहिये। क्रोध करने से दुःख होता है एवं क्लेश की वृद्धि होती है। अतः मानव को क्षमा-धर्म ही अपनाना चाहिये। किसी के प्रति बुरा भाव नहीं रखना चाहिये।

क्षमा किया सुख पामिवे,
क्रोध कियां दुख होई रे।
क्लेस टले क्षमा कियां
क्षमा थी शिव-सुख जोईरे॥

कवि ने मानव को धिक्कारा है कि हे मानव ! तू मोह-निद्रा में क्यों सोया हुआ है ? इतने दुःखों का भागी क्यों बन रहा है ? हे आत्मन् ! तू जाग, तेरे द्वार पर काल दूल्हे के समान बाहर खड़ा है। जिस प्रकार दूल्हा दुल्हिन का वरण कर उसे अपने साथ ले जाता है और उस दुल्हिन का अपने घर से वैसा कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता उसी प्रकार यह काल तुझे कुछ क्षणों में ही ले जायेगा और तेरा इस संसार से कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा।

किम दुख पावे रे मानवी सूतो मोहनी रे नींद।
काल खड़ो थोरे बारणें जिम तोरण आयो बींद॥

"यह मेला" शीर्षक कविता में सांसारिक सुखों की क्षणभंगुरता का वर्णन करते हुए कवि ने मांस-भक्षण, मदिरापान, परनारी-रमण आदि से दूर रहने की प्रेरणा दी है।

मांस खाय मदिरा पिये, परनारी संग आय।
ते नर ढोलां वाजतां, पड़े न र क रे मायं ॥

कनक एवं कामिनी ये दोनों ही साधना-मार्ग में बाधक माने गये हैं। इनमें फँसने के बाद आत्मा का कल्याण सम्भव नहीं। ज्यों-ज्यों वह इनसे निकलने का प्रयत्न करता है त्यों-त्यों वह और अधिक फँसता जाता है।

एक कनक दूजी कामनी
फन्द कह्या जिनराज रे।
इण फन्द में फंसिया रहे,
तो मरने दुर्गति जाय रे ॥

सात व्यसनों को त्यागने की भी कवि प्रेरणा देता है :—

व्यसन सारा जुवटा मै रमे,
सर्व वर्ष धूल मांहि गमें।
हार गया धन ओरा साल ॥

कवि के अनुसार सच्चा शूरवीर वही है जो किसी से वैर-भाव नहीं रखता। क्षमा-शील धैर्यवान व्यक्ति ही इस भव-सागर को पार कर सकता है—

रीस न राखे केह सुं साचा सूरवीरो रे।
भव-सागर हेलां तिरे धरसी सन में धीरो रे ॥

गुण, दया, क्षमा, सारल्य, प्रीति, संतोष आदि गुण ही मानव को आत्म-कल्याण की ओर अग्रसर करने वाले हैं। कवि ने आध्यात्मिक-जागरण की प्रेरणा देते हुए बड़े ओजपूर्ण शब्दों में कहा है—

दया-रणसिंघो, वाजियो, जागो जागो नर-नार।
मुगत-नगर में चालणों तुमे, वेगा हुइ जो त्यार ॥

कवि मानव-शरीर की नश्वरता की ओर भी संकेत करता है। अनेक भवों में भ्रमण करते हुए उसे यह दुर्लभ मानव-शरीर प्राप्त हुआ है। इस मानव-शरीर का बड़ा महत्व है क्योंकि प्रत्येक मानव इस काल में ही सद्कार्यों से ईश्वरत्व को प्राप्त कर सकता है। इस काल में किये गये कार्यों से ही उसका अगला भव निश्चित होगा। अतः यह काल बीते हुए काल एवं आने वाले काल के बीच की कड़ी है। "मूरख पच्चीसी" शीर्षक रचना में कवि जीवन की क्षण-भंगुरता बताते हुए कहता है—

डाभ अणी जल बिन्दुओ जेहवो संध्यानो वान ।
अथिर ज जाणो रे थांरो आउखो जिम पाको पीपलपान ॥

यह संसार एक मेले के समान है। यह संसारी आत्मा परदेशी के समान है, संसार उसका परदेश है। जिस प्रकार परदेशी को पत्र मिलते ही किसी भी बाधा एवं विघ्न की चिन्ता किये विना, परदेश से स्वदेश की ओर लौटना पड़ता है, उसी प्रकार संसारी आत्मा को, आयुष्य की समाप्ति पर, एक भव से दूसरे भव में जाना पड़ता है—

परदेशी परदेश में किण सूँ करे रे सनेह।
आयां कागद उठ चले, आंधी गिणे न मेह ॥

कवि को यह जग हटवाड़े के समान लगता है। इस हटवाड़े में सभी सम्बन्ध अस्थिर और स्वार्थों पर टिके होते हैं। कवि का कहना है कि सच्चा मेला तो धर्म का है, जो हर परिस्थिति में अविचल बना रहता है—

काचो सगपण कुटम्ब नो मिल मिल बिखर जाय।
साचो मेलो धर्म नो अविचल मेलो थाय ॥

इस नश्वर संसार में मानव को किसी भी वस्तु पर अभिमान नहीं करना चाहिये। यह शरीर, धन एवं यौवन सभी अस्थिर हैं। कोई भी मानव मरते समय एक भी वस्तु अपने संग नहीं ले जा पाता। अतः कवि का सन्देश है—

तन, धन, जोबन कारमो, न करो कोई गुमान।

कवि की पुनर्जन्म पर आस्था है। उसके अनुसार पिछले जन्म में किये गये अच्छे एवं बुरे कार्यों का फल भोगने के लिए फिर जन्म लेना होता है। इस जन्म में किये गये कार्यों के आधार पर ही अगले भव की गति निश्चित होती है। यदि एक व्यक्ति पालकी में सवारी करता है और उस जैसा ही दूसरा व्यक्ति नंगे पाँवों चलता है तो उसके पीछे जन्म में किये गये कर्मों का ही परिणाम है। अतः कवि इस जन्म में धर्म अर्थात् अच्छे कर्म करने की प्रेरणा देता है—

पाप करणी सूं दुःख पड़े जी धरम करणीं सूं सुख।
करे जिसा फल भोगवे जी रहे न किण री रूख ॥

कवि ने एक स्थान पर अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए दूसरों का अहित करने वालों की खूब खबर ली है—

आपणो पेट भरण के तांई,
पर घर नाखे ढायो रे।
परपूठे तो वरतज वाठे,
मूंडे करे नरमायो रे॥

कवि जांति-पांति का विरोधी है। जातिवाद की भर्त्सना करते हुए कवि ने मानव को चेतावनी दी है कि ऊँचे कुल में जन्मा व्यक्ति भी यदि पापाचरण करता है तो उसे उच्चकुलीन व्यक्ति नहीं कहा जा सकता, साथ ही यदि निम्नकुल में जन्मी आत्मा यदि सदाचरण करती है तो वह उच्चकुलीन ही मानी जायेगी—

ऊँचा कुल आय ऊपनो रे,
एतो हुआ रहे वड भोंचो रे।
माठा करतव लम्पटी अति घृणा,
ते तो लक्षण कह्यो जे नीचो रे॥

नीचे कुल आय ऊपना,
पिण ज्ञान विवेक शुद्ध धारो रे।
तिका नीचा ही ऊँचा कह्या,
सुद्ध समकित पामी सारो रे॥

कवि की चेतावनी है कि जब तक तेरी इन्द्रियाँ शिथिल नहीं हुई है तेरे शरीर में जरा ने आकर बसेरा नहीं किया है और रोग ने भी उसे अपना घर नहीं बनाया है तब तक तू धर्माचरण में संलग्न हो जा। किसी की निन्दा एवं व्यर्थ चर्चा में मत फंस। यदि तू पर-भव के कष्टों से डरता है तो किसी से राग-द्वेष मत रख—

जिहां लग पांचू इन्द्रिय रे परवड़ी,
जरा न व्यापी रे आय।
देह मांहि रे रोग न फेलियो,
तिहां लग धर्म संगाय॥

निन्दा विकथा रे मत कर पारकी,
आप सांभो रे देख।
जो तू पर-भव सों डरतो रहे,
तो किण सूं मत कर द्वेष॥

जयमल्लजी ने कबीर की भाँति ही कई स्थानों पर मानव को दुष्प्रवृत्तियों के लिए फटकारा है, पर उनमें खण्डन मण्डन की प्रवृत्ति प्रमुख नहीं है।

कबीर परनारी के लिए लिखते हैं—

पर-नारी राता फिरें, चोरी बिढ़ता खांहि।
दिवस चारि सरसा रहे, अंति समूला जांहि।

जयमल्लजी भी इसी बात को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

घर नारी छूटे नहीं तो परनारी तो छांड रे।
परनारी ना संग थी घणा हुआ छै भाँड रे।।

परनारी नी प्रीत सूं पाणी उतर जाय रे।
खिण एक सुख रे कारणे, मार अनन्ती खाय रे।।

कवि के मतानुसार बूढ़े व्यक्ति यदि धर्म के बिना ही काल व्यतीत कर रहे हैं तो वे बूढ़े होने पर भी बालक ही हैं। "शिक्षा पद" नामक रचना में कवि ने कहा है—

नाटक गीत तमाशा देखण
तुरत हरक से जाई रे।
धर्मकथा साधां रे दर्शन
जातां पग लडखड़ाई रे।

कवि की "दीवाली" भी आध्यात्मिक दीवाली है। यदि दीवाली मनानी हैं तो दया रूपी दीपक में सम्यक्त्वरूपी ज्योति को प्रज्वलित करना चाहिये ताकि मिथ्यात्वरूपी अंधकार नष्ट हो जाय।

दया रूपी दिवलो करो, संवेग रूपणी वाट।
समगत ज्योत उजवाल ले मिथ्या अंधारो जाय फाट।।

दीवाली पर होने वाले सभी संस्कारों एवं रीति-रिवाजों का धर्म से सम्बन्ध जोड़कर कवि ने जो रूपक बाँधा है, वह बड़ा सुन्दर बन पड़ा है।

दीवाली के दिन पूजे जाने वाले बहीखातों की तरह धर्म पूजा, मकान आदि की स्वच्छता की तरह आत्म-शुद्धि तथा स्वजनों के प्रति किये गये स्नेह की तरह धर्म-स्नेह किये जाने पर कवि ने विशेष बल दिया है—

पर्व दिवाली ने दिने पूजे बही लेखण ने दोत।
ज्यूं तू धर्म न पूजले, दीपे अधिकी जोत।।

पर्व दिवाली जाण ने, उजवाले हवेली ने हाट।
इम तूं व्रत उजवाल ले, बंधे पुनां रा ठाठ॥

धराधान त्रिया बालक, सजन वहाला लागे तोय।
जैसो नेहकर धर्म सूं ज्यों मुगति तणा सुख होय॥

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कवि की व्यावहारिक उपदेशपरक रचनाएँ आत्म-विकासी एवं नैतिकता की ओर अग्रसर करने वाली हैं। यह सही है कि इन नीतिपरक मुक्तकों में कवित्व की अपेक्षा उपदेशों की अधिक प्रधानता है। अन्य नीतिकार कवियों ने जहाँ सूक्तियों के माध्यम से लोक-व्यवहार की बातें कहकर लोकजीवन को सुखी बनाने का उपक्रम किया है। वहाँ कवि जयमल्लजी का लक्ष्य लोकोत्तर जीवन को अधिक सफल बनाने का रहा है। एक ने लौकिक पक्ष के विविध रहस्यों का उद्घाटन किया है तो दूसरे ने आत्म-प्रदेश की यात्रा में पड़ने वाले विभिन्न स्थलों का पर्यटन। एक की दृष्टि यथार्थ-मूलक अधिक रही है तो दूसरी की पूर्णतः आदर्शमूलक।[1]

(२) तात्विक उपदेश

कवि की कतिपय उपदेशपरक रचनाओं में जैन-दर्शन के तत्वों की भी चर्चा की गयी है। "इरियावही नी सज्झाय", "चौवीस दण्डक नी सज्झाय", "पन्द्रह परमाधर्मी देव", "शल्य छत्तीसी", "जीवा बयालिसी" आदि रचनाओं के नाम तात्विक उपदेशपरक रचनाओं में प्रमुख हैं।

"इरियावही नी सज्झाय" में कवि ने अनेक प्रकार से जीवों की गणना कराई है। इस संसार में "कुल सहस चौवीस एक सौ वीस धुर अठारे लाख" जीव हिंसा के पाप से मुक्त होने के प्रकार हैं। इन्हें किसी प्रकार से सताना नहीं चाहिए। यदि इनके साथ किसी भी प्रकार का दुर्व्यवहार हो भी जाये तो उसके लिए "इरियावही प्रतिक्रमण" करने का विधान किया गया है।

भवियण इरियावही पडिकमिये रूड़ो धर्म हिय में धरिये।
प्राणी पर भव सेती डरिये, जांणी जरा तो सम्वर[2] करिये॥

इस जन्म में किये गये पापों के प्रायश्चित के लिए यह प्रत्याख्यान

---

१. डा० नरेन्द्र भानावत : आ० जयमल्लजी : व्यक्तित्व एवं कृतित्व ह० स्मृ० ग्रन्थ—१५१

२. कर्मबन्ध के कारण प्राणातिपात आदि जिससे रोके जायें, वह संवर है।
—श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह भाग १, पृ० २८५

आवश्यक है। इस प्रत्याख्यान से यह पापी मानव भी स्वर्ग का अधिकारी बन सकता है।

> इरियावही साचे मन गुण ने, सरदहणा मे रेणो।
> अपना पाप उतारण हेते, मिच्छामि दुक्कडं देणो॥
> उपयोग सहित इरियावही गुण ने सरधमा में आसी।
> कहे रिख "जयमल्ल" सुणो नरनारी, अमरापुर में जासी॥

मनुष्य को यह दुर्लभ मानव भव मिला है। इस भव में ही वह सद्कार्य करके अपने आगे आने वाले सभी अवस्थान्तरों को सुधार सकता है। भगवान महावीर स्वामी ने तीर्थंकर होने से पूर्व सत्ताईस भव पाये थे। इन सत्ताईस भवों में से जिन्होंने अहिंसा, जीव-दया, अपरिग्रह आदि तत्वों का यथावसर अनुपालन किया और तब कहीं वे अरिहन्त जैसे विशिष्ट पद के भागी बन सके। पापी जीव नरक में जाता है। नरक सात[1] बताये गये हैं। पापाचरण करने वाले व्यक्ति को इनका भागी बनना पड़ता है। पापाचरण की सीमाओं के अनुसार ही सात नरकों का विभाजन किया गया है। भिन्न-भिन्न नरकों में भिन्न-भिन्न प्रकार के घोर कष्ट दिये जाते हैं। नरक में ये कष्ट पन्द्रह परमाधर्मी देवों द्वारा दिये जाते हैं। ये देव मानव के पापाचरण के प्रकार को देखकर दारुण कष्ट देते हैं। प्रथम परमाधर्मी देव द्वारा दिये जाने वाले कष्टों का एक नमूना देखिये—

> "आमे" देवता कोप करी रे लाल,
> हण ने उछाले आकाश हो।
> पड़ता ने झेले त्रिशूल सूं रे लाल,
> देवे पापी ने त्रास हो॥

इसी प्रकार अन्य परमाधर्मी देव भी घोर कष्ट देते हैं। कवि ने "पन्द्रह परमाधर्मी देव" नामक रचना में तो नरक के घोर कष्टों एवं वेदनाओं का

---

१. घोर पापाचरण करने वाले जीव अपने पाप का फल भोगने के लिए अधोलोक के जिन स्थानों में पैदा होते हैं, उन्हें नरक कहते हैं। वे नरक सात पृथ्वियों में विभक्त हैं।

(१) घम्मा (२) बंसा (३) सीला (४) अंजना (५) रिट्ठा (६) मघा (७) माघवई

—वही, भाग-२ पृ० ३१४ (प्रवचन द्वार)

वर्णन किया है एवं अन्त में इन कष्टों का भय दिखाकर धर्माचरण करने की प्रेरणा दी है—

ऐसा दुखां सूं डरपने रे लाल,
कीजो धरम सूं प्रेम हो।
सत शील दया आदरो रे लाल,
रिख "जयमल्ल" कहे एम हो॥

कवि ने शल्यों[1] से दूर रहने की शिक्षा दी है। कपट भाव रखना एवं दूसरों पर आरोप लगाना माया शल्य है। राजा, देवता आदि की ऋद्धि को देखकर यह अध्यवसाय करना कि मेरे द्वारा किये गये ब्रह्मचर्य, तप आदि अनुष्ठानों के फलस्वरूप मुझे भी ये ऋद्धियाँ प्राप्त हों, निदानशल्य है। विपरीत श्रद्धा का होना मिथ्यादर्शन शल्य है। "शल्य छत्तीसी" शीर्षक रचना में कवि ने इनका वर्णन किया है।[2]

सुखमालिका, द्रौपदी, नन्दन मणिहारा, जमाली अभीचकुमार आदि ने शल्य भाव रखा, फलतः वे सन्तप्त रहे, किन्तु मेघमुनि श्रेणिक एवं चेलना आदि साधकों ने मन में कोई शल्य भाव नहीं रखा, अतः वे सिद्धि-सुख को प्राप्त कर सके।

शल्य का प्रत्याख्यान करने से मन निर्मल हो जाता है। यदि स्वीकृत किये गये शल्यों एवं अतिचारों का प्रत्याख्यान नहीं किया जाता तो उसे

---

१. जिससे बाधा एवं पीड़ा हो उसे शल्य कहते हैं। ये दो प्रकार के हैं—द्रव्यशल्य और भावशल्य। काँटा भाला आदि द्रव्य शल्य है और भाव शल्य हैं—(१) माया शल्य (२) निदान शल्य (३) मिथ्या दर्शन शल्य

—जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भाग १, पृ० ७३ (ठाणांग सूत्र १८२

२. (क) माया शल्य

कोई वैरागी आलोवसी, आलोवे नहीं लपटी रे।
आठ बोल "ठाणायंग" कह्या, मायाविया होवै कपटी रे।

—जयवाणी : पृ० १६८

(ख) मिथ्यादर्शन शल्य

आचारवन्त ने आगले, शुद्ध आलोयण लीजे रे।
भोला बालक नी परे, सरल होय आखीजे रे॥

—वही पृ० १६८

दण्डित होना पड़ता है। स्वकृत कर्मों के फल भोगने के स्थान को दण्डक कहते हैं। कवि ने "चौवीस दण्डक नी सज्झाय" में इन दण्डकों[1] का वर्णन किया है। शल्य-भावों से मुक्त होने के लिए दस प्रकार के प्रायश्चित[2] का विधान किया गया है।[3]

पहले कभी यही मानव एकेन्द्रिय जीव के रूप में रहा होगा। वाद में उसमें जीभ के आने से दूसरी इन्द्रिय वढ़ गयी, नाक तीसरी इन्द्रिय मानी गयी, आँख चौथी और कान पाँचवीं। अर्थात् वह पूर्ण मानव, पंच इन्द्रिय

---

१. चौबीस दण्डक ये हैं—

(१) सात नरक	(२) असुर कुमार
(३) नागकुमार	(४) सुवर्णकुमार
(५) विद्युत्कुमार	(६) अग्निकुमार
(७) द्वीपकुमार	(८) उदधिकुमार
(९) दिशाकुमार	(१०) वायुकुमार
(११) स्तनित कुमार	(१२) पृथ्वीकाय
(१३) अप्काय	(१४) तेउकाय
(१५) वायुकाय	(१६) वनस्पतिकाय
(१७) वेईन्द्रिय	(१८) तेईन्द्रिय
(१९) चतुरिन्द्रिय	(२०) तिर्यन्च पंचेन्द्रिय
(२१) मनुष्य	(२२) वाण व्यन्तर
(२३) ज्योतिपी	(२४) वैमानिक

—श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह भाग १, पृ० २०४

२. दस प्रायश्चित इस प्रकार हैं

(१) आलोचनार्ह	(२) प्रतिक्रमणार्ह
(३) तदुभयार्ह	(४) विवेकार्ह
(५) व्युत्सर्गार्ह	(६) तपार्ह
(७) छेदार्ह	(८) मूलार्ह
(९) अनवस्थाप्यार्ह	(१०) पारांचिकार्ह

—श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भाग १, पृ० ७४

३. प्रायश्चित दस प्रकार ना लेई ने शल्य काढ़ीजे।
लोक वतावे आंगुली ऐहवो काम न कीजे रे॥

—जयवाणी पृ० १६८

जीव बना। गर्भ में आने के बाद इस जीव ने अनेक कष्ट सहे। अनेक दुःख एवं कष्टों के बाद उसे यह मानव जीवन मिला है। पर अज्ञानवश इस दुर्लभ मानव जीवन को भी वह मोह-निद्रा वश यों ही खो देता है। यही नहीं अनेक पाप-कर्म करने के कारण वह नरक का भागी भी बनता है। अतः आत्म-कल्याण के लिए कवि का उपदेश है—

दान, शियल तप, भावना जीवा,
एह थी राखो प्रेम।
कोई कल्याण छे तेहने जीवा,
रिख जयमल्ल कहे एम॥

पारिभाषिक शब्दावली के प्रयोग से ये तात्विक रचनाएं किंचित दुर्बोध बन गयी हैं। इनमें कवित्व कम एवं दार्शनिकता ही अधिक उभर कर सामने आयी हैं।

३. चरित्रपरक रचनाएं

सन्त कवि जयमल्लजी की भाव धारा प्रबन्ध रूप में भी वही, यद्यपि यह प्रबन्ध रूप महाकाव्य की सी विशदता ग्रहण नहीं कर पाया। यह कथा-काव्य बनकर रह गया। इसमें इतिवृत्त का अंश अधिक है। मार्मिक-स्थलों की तरफ भी कवि ने ध्यान कम दिया है। क्योंकि कथा कहने की प्रवृत्ति इतनी तीव्र थी कि मार्मिक-स्थलों पर विराम किये बिना ही वह आगे बढ़ जाता है, किन्तु कहीं-कहीं प्रसंग की मार्मिकता दर्शनीय है।[1]

चरित काव्यों में कथा-तत्व का अस्तित्व प्राचीन काल से स्वीकार किया

---

१. तरसत अखियां हुई द्रुम-पखियां।
जाय मिली पिव सुं सखियां॥
यदुनाथजी रे हाथ री ल्यावे कोई पतियां॥
नेमनाथजी—दीनानाथ जी॥
जिण कूं ओलमों एतो जाय कहणो,
थे तज राजुल किम भये जतियां।
जाकूं दूंगी जरावरो गजरो,
कानन कूं चूनी मोतिया॥

—जयवाणी पृ० २२६

जाता रहा है। इसी कारण चरित काव्यों को "कथा" कहा गया। प्राचीन साहित्य में "कथा" शब्द का प्रयोग स्पष्ट रूप से दो अर्थों में हुआ है। एक तो साधारण कहानी के अर्थ में और दूसरा अलंकृत काव्य रूप के अर्थ में। साधारण कहानी के अर्थ में तो पंचतंत्र की कथाएँ भी कथा है, महाभारत और पुराणों के आख्यान भी कथा हैं, परन्तु विशिष्ट अर्थ में यह शब्द अलंकृत गद्य-काव्य के लिये प्रयुक्त हुआ है।[1] चरित काव्य को कथा कहने की प्रवृत्ति काफी समय तक चलती रही। तुलसीदास का "रामचरित मानस" चरित काव्य होते हुए भी कथा-प्रधान है। उन्होंने अपने ग्रन्थ में इसे कई बार कथा-काव्य कहा है। कवि की चरितपरक रचनाओं में कथा की प्रधानता होने पर भी यह साधारण कथा के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हो सकती। यह अलंकृत काव्य रूप ही है।

चरितकाव्य परम्परा

ऐतिहासिक व्यक्तियों के जीवन चरित को आधार बनाकर काव्य लिखने की प्रवृत्ति इस देश में सातवीं शताब्दी के बाद तेजी से चली है। हिन्दी साहित्य के आदिकाल में यह प्रवृत्ति और अधिक बढ़ गई। जैन ग्रन्थों के मुख्य प्रतिपाद्य ६३ महापुरुषों के चरित्र हैं। इसमें २४ तीर्थङ्कर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव व ९ प्रतिवासुदेव हैं। इन "चरित्रों पर" लिखे गये ग्रन्थों को दिगम्बर परम्परा में "पुराण" एवं श्वेताम्बर परम्परा में 'चरित' कहा गया है। पुराणों में सबसे प्राचीन पुराण 'त्रिषष्ठिलक्षण महापुराण' है जिसके आदि पुराण और उत्तर पुराण, ऐसे दो भाग हैं। पुराणों की कथा प्रायः राजा श्रेणिक के प्रश्न करने पर गौतम गणधर द्वारा कहलवाई है। श्वेताम्बर चरितों में सबसे प्रसिद्ध है—हेमचन्द्र का "त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित" जिसे स्वयं आचार्य ने महा काव्य कहा है। इस अंश की बहुत-सी कहानियाँ यूरोपियनों के मत से विश्व-साहित्य में स्थान पाने योग्य हैं। वीरनन्दी का चन्द्रप्रभ चरित, वादिराज का पार्श्वनाथचरित, हरिचन्द का धर्मशर्माभ्युदय, धनंजय का द्विसंधान, वाग्भट का नेमिनिवार्ण, अभयदेव का जयन्त विजय, मुनिचन्द का शांतिनाथ चरित आदि उच्चकोटि के महाकाव्य हैं।[2]

कुछ ऐसे भी चरित मिलते हैं जो इन ६३ पुराण-पुरुषों के अतिरिक्त हैं यथा—प्रद्युम्न, नागकुमार, वरांग-यशोधरा, जीवंधर, जम्बूस्वामी, जिनदत्त

---

१. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य का आदिकाल—५७
२. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य की भूमिका—२३०

श्रीपाल आदि। ऐसे श्रेष्ठ "महात्माओं एवं श्रावकों के चरित" काफी संख्या में उपलब्ध होते हैं।

इस प्रकार चरित काव्यों की कवि जयमल्लजी के सम्मुख एक लम्बी परम्परा थी। यदि वे चाहते तो एक-एक चरित्र को लेकर एक पूरा महाकाव्य भी लिख सकते थे, किन्तु यह उनकी प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं था। जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, इन सन्त कवियों का प्रमुख ध्येय कविता करना नहीं था, कविता इनके लिये अपने सिद्धान्तों एवं दर्शन को स्पष्ट करने के लिए साधन मात्र थी। ये सन्त अपने चतुर्मास के प्रवास के समय प्रतिदिन प्रातःकाल दो या तीन घण्टे जन-समुदाय के सम्मुख प्रवचन देते थे, (यह परम्परा आज भी निरन्तर चल रही है)। अतः इस सीमित समय में किसी भी महापुरुष के चरित को वे गा-गाकर सुनाया करते थे, प्रयत्नपूर्वक वे उस काव्य का शृंगार नहीं करते थे। स्वभावतया ही उसमें काव्यत्व आ जाता था। हमारे आलोच्य कवि ने महापुरुषों के चरित को लेकर जो रचनाएँ लिखी हैं वे प्रबन्ध काव्य की कोटि में आती हैं, किन्तु इन्हें कथा-काव्य कहना ही अधिक उचित होगा। ये सभी कथाएँ आगम संगत हैं। कवि ने प्रत्येक कथा के प्रारम्भ में यह बता दिया है कि यह कथा किस सूत्र से ली गई है।[1]

कथा-संगठन

इन सब कथाओं का उद्देश्य प्रायः एक ही है वह है निर्वाण प्राप्ति। सांसारिक भोग-विलास से मुक्त होकर लोकोत्तर जीवन को सफल बनाने के लिए चरित नायक प्रवज्या ग्रहण करते हैं। इन कथाओं में काव्यशास्त्रीय ढंग की जो कार्यावस्थाएँ हैं, उनका क्रमबद्ध विकास एवं स्वरूप देखा जा सकता है। 'आरम्भ' में राजघराने या कुलीन परिवार से सम्बन्धित पात्र सम्मुख आते हैं, कहीं-कहीं पर कुछ पात्र निम्न कुल के भी हैं, जैसे—अर्जुनमाली एवं सद्दाल कुम्हार पुत्र। उद्देश्य की प्राप्ति (निर्वाण प्राप्ति) के लिए 'प्रयत्न' शुरू होने के रूप में किसी तीर्थकर या मुनिराज का उस नगरी में पदार्पण होता है। नायक राजसी ठाठबाट से उनके दर्शनार्थ जाता है। वे तीर्थंकरादि धर्मोपदेश देते हैं

---

१. एक उदाहरण देखिए—

रायपसेणी सूत्र में रायप्रदेशी ना भाव।
सूर्याभ देव मरने हुओ, धर्म तणे प्रभाव।।

—जयवाणी पृ० २३६

एवं कहीं-कहीं पर नायक के पूर्वभव को भी वता देते हैं। पूर्वजन्म की कथा सुनकर नायक सांसारिक भोग विलासों एवं भयंकर दुःखदाह से मुक्त होने के लिए संयम-धारण करने का संकल्प करता है। इस संकल्प को पूर्ण करने के लिए नायक को संघर्ष करना पड़ता है। यह संघर्ष प्रायः पारिवारिक होता है। कभी माता की ममता[1] उसे रोकती है तो कभी प्रियतमा की अश्रुपूर्ण आँखें उसे डिगाती हैं[2]।

इस प्रकार ये सभी नायक मोह-पाश को तोड़ कर कर्तव्य-पथ की ओर अग्रसर हो जाते हैं। यही 'प्राप्त्याशा' की स्थिति है। कभी-कभी संयम-धारण करने की भावना को प्रोत्साहित करने के लिए प्रतिकूल परिस्थितियाँ भी अनुकूल बन जाती हैं। कृष्ण, नेमिनाथ को विवाह-सूत्र में बाँधने के लिए अथक प्रयत्न करते हैं। राजमती के साथ नेमिनाथ का वाग्दान भी हो जाता है। यहाँ तक कि नेमिनाथ दूल्हा बनकर, बारात लेकर राजमती के महल तक भी चल देते हैं, किन्तु अचानक परिस्थिति बदल जाती है और वे भोज के लिए बन्दी पशु-पक्षियों का कातर करुण क्रन्दन सुनकर तोरण से उल्टे पाँव लौटकर दीक्षा धारण कर लेते हैं।[3]

संयम लेने के बाद केवल-ज्ञान प्राप्त करने तक की स्थिति 'प्राप्त्याशा' से लेकर नियताप्ति तक की स्थिति है। नियताप्ति तक पहुँचने के लिए साधक को देवता अनेक परिषह[4] देते हैं। यदि वह इन परिस्थितियों से वीर योद्धा की

---

१. (क) सुबाहुकुमार की माता उसे रोकती है।

—जयवाणी—२११-१३

(ख) देवकी गजसुकुमाल को रोकती है।

—जयवाणी—३४०-४१

२. मेघकुमार को उसकी आठ रानियाँ रोकती हैं।

—जयवाणी—३७४-७५

३. जयवाणी पृ०—२१७-२१८

४. आपत्ति आने पर भी संयम में स्थिर रहने के लिए तथा कर्मों की निर्जरा के लिए जो शारीरिक तथा मानसिक कष्ट सहने पड़ते हैं उन्हें परिषह कहते हैं।

—श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह भाग १ पृ०—१६० (समवायांग २२ वां)

द्वारा खैर की लकड़ी के अंगारे उनके मस्तक पर रखे जाने पर भी अपना ध्यान न छोड़ा[1]।

ये बाधाएँ ही साधक को कसौटी पर कसती हैं। जो इन कसौटियों पर खरा उतरता है, वह "नियताप्ति" की स्थिति में पहुँच जाता है। इन कथाओं में यह स्थिति या तो केवल-ज्ञान की प्राप्ति पर निश्चित होती हैं या किसी विमान (स्वर्ग-लोक) विशेष में पहुँचने पर। इसके बाद "फलागम" के रूप में मुक्ति की प्राप्ति होती है। जहाँ जन्म-मरण का चक्र टूट जाता है। यही पूर्ण आध्यात्मिकता की स्थिति है जहाँ लौकिकता का अंश मात्र भी नहीं रहता।

कथानक रूढ़ियाँ :—

परम्परा का अभिमान जातीय गौरव की वस्तु है। जिस प्रकार कुल, जाति और संस्कृति की प्रेरणादायिनी शक्तियों के निर्माण के पीछे एक सशक्त एवं गौरवशाली इतिहास रहता है वैसे ही साहित्य की सुनिश्चित परम्पराओं के पीछे भी सर्वत्र लम्बे अतीत का उज्ज्वल इतिहास एवं अनेक मनीषियों का अपार बुद्धि-वैभव सतत क्रियाशील रहता है। पूर्व रचित साहित्य में प्राप्त सौन्दर्य की अनेक विधाएँ, चमत्कार की अनेक प्रणालियाँ आदि संस्कृति की जीवन मान्यताएँ बन जाती हैं। ये परम्पराएँ कालान्तर में बहुजन प्रयुक्त होकर रूढ़ियों का रूप धारण कर लेती है, अनेक व्यक्तियों द्वारा अनेक स्थलों पर दुहराई जाने पर वही बात रूढ़ि बन जाती है। परम्परा को समझ-बूझकर विकल्प बुद्धि द्वारा ग्रहण किया जाता है, किन्तु रूढ़ि का प्रयोग अंधाधुन्ध होता है। कथानक रूढ़ियाँ भी इसी प्रकार की रूढ़ियाँ हैं, जिन्हें अंग्रेजी में Motif कहते हैं। कथनाक-रूढ़ि के सम्बन्ध में शिफले का कथन है, मोटिफ एक शब्द अथवा विचारक्रम है जिसकी समान स्थितियों में पुनरावृति होती है अथवा जो युग की किसी एक अथवा विभिन्न कृतियों में समान मानसिक दशा उत्पन्न करने के लिए आता है।"

कथानक-रुढ़ि शब्द का प्रयोग हिन्दी में सबसे पहले डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने किया है। वे लिखते हैं—"ऐतिहासिक चरित का लेखन सम्भावनाओं

---

१. देखी सोमल कोप्यो मस्तक वांधी पाल।
खेरांना खीरा, शिरठविया असराल।६४।
मुनि नजर न खण्डी मेटी मननी झाल।
"रीपह सही ने मुक्ति गया तत्काल।६५।

—अनन्त चौबीसी

पर अधिक बल देता है। सम्भावनाओं पर बल देने का परिणाम यह हुआ है कि हमारे देश के साहित्य में कथानक को गति और घुमाव देने के लिए कुछ अभिप्राय दीर्घकाल से व्यवहृत होते आ रहे हैं जो बहुत थोड़ी दूर तक यथार्थ होते हैं और जो आगे चलकर कथानक रूढ़ियों में बदल गये हैं।"[1] वासुदेवशरण अग्रवाल के कथानुसार "ईंट गारे की सहायता से जैसे भवन बनते हैं वैसे ही भिन्न-भिन्न अभिप्रायों की सहायता से कहानियों का रूप सम्पादित होता है।" हमारे आलोच्य कवि ने भी चरितकाव्यों में गति एव तीव्रता लाने के लिए कथनाक रूढ़ियों का सहारा लिया है। कहीं-कहीं कथानक रूढ़ियाँ इतनी अधिक छा गई है कि कथा का मूल अंश दब-सा गया है। सन्त कवि जयमल्लजी द्वारा रचित कथा-काव्यों में मुख्यत: निम्नलिखित कथानक रूढ़ियाँ प्रयुक्त हुई हैं—

(१) नायक कोई राजा, राजकुमार या गाथापति होता है।

(२) नायक को सांसारिक भोग ऐश्वर्य के सभी साधन यथेष्ट मात्रा में उपलब्ध हैं। कई कथाओं में नायक के एक से अधिक रानियाँ हैं।

(३) तीर्थंकर भगवान या कोई विशिष्ट मुनिराज ग्रामानुग्राम विहार करते हुए उसकी नगरी में पदार्पण करते हैं।

(४) नगर के प्रमुख उद्यान में ये मुनिवर ठहरते हैं।

(५) नायक राजसी ठाठबाट के साथ सपरिवार उन्हें वन्दन करने के लिए जाता है।

(६) तीर्थंकर भगवान नायक को धर्म देशना के साथ-साथ पूर्वभव का वृत्तान्त भी सुनाते हैं।

(७) अपने पूर्वभव का वृत्तान्त सुनकर नायक संसार से विरक्त होकर दीक्षा लेने का संकल्प करता है और अपने पुत्र को उत्तराधिकारी बना देता है।

(८) दीक्षा के भयंकर कष्टों का वर्णन सुनकर भी वह विचलित नहीं होता है।

(९) नायक उन्हें प्रतिबोध देकर दीक्षा ले लेता है। कभी-कभी माता-पिता एवं अनेक मन्त्रीगण भी साथ ही दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं।

(१०) साधना-काल में नायक को अनेक उपसर्ग एवं परिणाम सहने पड़ते हैं।

---

1. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य का आदिकाल पृ०—८०

(११) इन कठिनायों में प्राय: देवता आकर सहायता करते हैं, पर तपस्वी साधक अपने वल पर ही उसका मुकावला करते हैं।

(१२) कभी-कभी देवता भी वैक्रिय रूप धारण कर नाना प्रकार के दुःख देकर नायक के संयम एवं चरित्र की परीक्षा लेते हैं।

(१३) साधना में खरा उतरने पर नायक को केवल-ज्ञान प्राप्त होता है एवं अन्तत: वह मोक्ष का अधिकारी बनता है।

उपर्युक्त सभी कथानक रूढ़ियाँ कथा को बल प्रदान करती हैं। इनसे कथा में वक्रता एवं घुमाव आ जाता है जिससे पाठक की उत्सुकता बराबर बनी रहती है।

पात्र एवं चरित्र-चित्रण

सौन्दर्य का एक मनोरम रूप पात्रों की नवीन सृष्टि में भी दिखाई देता है। जिस प्रकार किन्हीं परिस्थितियों, भावनाओं, विचारों एवं दृश्यों की अभिव्यंजना में सौन्दर्य की प्रतीति होती है उसी प्रकार पात्रों की सृष्टि भी हमें मुग्ध कर देती है। जब हमारी हृदय-चेतना के मंच पर अनेक पात्र भिन्न-भिन्न अभिनय करते हैं तब ऐसा अनुभव होता है मानो हम कोई भव्य दृश्य का अवलोकन कर रहे हों। आलोच्य कवि ने इन कथा काव्यों में पात्रों की बड़ी मनोरम सृष्टि की है। यहाँ आये पात्र कुलीनवर्ग से सम्बन्धित हैं। पुरुष पात्र राजा, महाराजा या सेठ आदि हैं। उदाहरण के लिए 'भृगुपुरोहित 'सेठ हैं, नेमिनाथ' राजकुमार हैं, 'सुबाहुकुमार' राजकुल से सम्बन्धित हैं, 'राजा प्रदेशी' राजा हैं, 'मेघकुमार' राजकुमार है। 'कार्तिक' सेठ है। कुछ कथाओं के नायक आदर्श श्रावक हैं। यद्यपि वे उच्चकुलीन नहीं हैं तथापि उनका परिवेश धार्मिक सौरभ से मंडित है, जैसे 'सद्दालपुत्र' एक कुम्हार है। 'अर्जुनमाली' माली है।

ये सभी पात्र जीवन के प्रात:काल में प्राय: भोगी एवं गृहस्थ होते हैं किन्तु प्रारम्भिक जीवन में ही कोई घटना ऐसी घटित होती है कि ये संसार से विल्कुल विमुक्त होकर जीवन के संध्याकाल में संयम धारण कर निर्वाणपथ के पथिक बन जाते हैं। स्त्रीपात्र भी सामान्यत: ऊँचे कुल से सम्बन्धित हैं। इनमें माता एवं स्त्री का रूप सर्वाधिक निखर कर सामने आया है। कभी ये नायक को संयम लेने से रोकती हैं और विलाप भी करती हैं और कभी स्वयं भी दीक्षा ग्रहण कर लेती हैं। 'महारानी देवकी' शीर्षक रचना में देवकी का मातृत्व पूर्णरूप से उभरकर सामने आया है। देवकी ने सात-सात पुत्रों को

तरसत अँखिया हुई द्रुम-पखियाँ ।
जाय मिलो पिवसूँ सखियाँ !
यदुनाथ जी रे हाथ री ल्यावे कोई पतियाँ ।
नेमनाथ जी–दीनानाथ जी ॥

जिण कूँ ओलंभो एतो जाय कहणो,
थे तज राजुल किम भये जतिया ॥
जांकूं दूंगी जरावरो गजरो,
कानन कूं चूनी मोतिया ॥
अँगुरी कूं मूदड़ी,औढण कूं फभड़ी
पेरण कूं रेशमी धोतियां,
महल अटारी-भए कटारी,
चंद-किरण तनूं दाभतिया ॥[1]

राजुल की माता उसे कई प्रकार से आश्वस्त करती है, वह यही कहती है—"**किण के शरणों जाऊँ, नेम बिना किनके शरणें जाऊँ।**" कवि की ये पंक्तियाँ चिर-वियोगिनी मीरा के काव्य की स्मृति करा देती है। उपर्युक्त पंक्तियाँ विरहिणी राजुल का चित्र आँखों के सामने स्पष्ट कर देती है।

इन मानवीय पात्रों के अतिरिक्त कुछ दैविक पात्र भी इन कथा-काव्यों में आये हैं। देव पात्रों में देव एवं यक्ष आदि आते हैं। ये अलौकिक पात्र नायक को उद्देश्य प्राप्त कराने में कहीं तो सहायक बनते हैं और कहीं वे कष्ट देकर उन्हें आतंकित भी करते हैं। 'अर्जुनमाली' नामक कथा-काव्य में अर्जुन की स्त्री पर बलात्कार होने पर उसका विश्वास अपने भगवान की मूर्ति से उठने लगता है, किन्तु देव तुरन्त ही उपस्थित होकर उसकी सहायता करते हैं—

देव क्रोध तणे वश थायो,
पैठो अर्जुन रा डीलमांयो।
जख परतख कीधी सहाय,
इण रे पेस गयो दिल मांय।
सबलो कीधौ जोरो,
तड़क नाख्या बंधण तोड़ो।
सहस पल नो सहमाय,
छऊँ पुरुसांने नाख्या ढाय।[2]

"महारानी देवकी" कथा-काव्य में देवकी के सात पुत्र होते हैं पर एक भी उसके पास नहीं रहता। देव-कृपा से वे पुत्र सुलसा नामक स्त्री को मिल जाते थे एवं देवकी मृत पुत्रों की ही माता बनी रह पाती थी—

देव कहे मुझ थकी जी, तुझ नन्दन जीवाय।
पिण हूँ आपिस जीवता जी, पर ना बालक लाय॥
सुलसा ने तूं एकण समे जी, गर्भ धरे समकाल।
साथे जणे देव जोग थी अनुक्रमे षट ही बाल॥
देवकी सांसौ मति कर कोय॥
मुर्दा बालक सुलसा जणे जी, ते मेले तुम पास।
ताहरा मेले जीवता जी, सुलसा री पूरे आस॥ देव[1]॥

ये सभी पात्र कथा-काव्यों में पूर्ण रूप से चित्रित नहीं हो पाये हैं। इसका कारण कवि का सीमित उद्देश्य रहा है उस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए ही कवि पात्रों को प्रेरित करता है और केवल इसी प्रसंग में पात्रों का चरित्र स्पष्ट हुआ है।

वर्णन

इन कथा काव्यों में इतिवृत्त की प्रधानता है। इसी कारण इनमें वर्णनों का बाहुल्य है। ये वर्णन दो रूपों में सामने आये हैं—वस्तुरूप में और भावरूप में।

(क) वस्तुरूप में वर्णन :—

वस्तुरूप में जो वर्णन आये हैं, उनसे कई सांस्कृतिक विशेषताओं का पता चलता है। इन वर्णनों में नगर वर्णन, वैभव वर्णन, जन्म वर्णन, रूप वर्णन, विवाह वर्णन, मुनि दर्शन एवं दीक्षा वर्णन प्रमुख हैं।

(१) नगर वर्णन

"मेघकुमार" कथा-काव्य में राजगृही नगरी का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

राजगृही नगरी अति सुन्दर,
माथा रा तिलक समान री माई।
एक कोड़ ने छासठ लाख,

---

१. जयवाणी,—३२८-३२९

गाँव तणो अनुमान री माई
पुण्य तणा फल मीठा जाणो ॥[1]

(२) वैभव-वर्णन

द्वारिका-नगरी के वर्णन में कवि ने वैभव एवं ऐश्वर्य का उल्लेख इस प्रकार किया है—

भगवन्त नगरी द्वारिका जी,
बारे जोजन प्रमाण।
कृष्ण नरेसर राजवी जी,
ज्यांरी तीन खण्ड में आण।
मुनीसर एक करूँ अरदास ॥
सोवन कोट रतन कांगुरा जी,
सोभे रूड़ा आवास।
झिगमिग करने दीपता जी,
देवलोक जिम सुख-वास ॥ मुनी० ॥[2]

(३) जन्म-वर्णन

जन्म वर्णन में अनेक काव्य-रूढ़ियों का प्रयोग किया गया है जैसे—चौसठ, इन्द्र-इन्द्राणियाँ जन्मोत्सव मनाने के लिए उपस्थित हुए, छप्पन कुमारियां उल्लास मनाने लगीं, आदि 'महारानी देवकी' कथा में गजसुकुमार के जन्म वर्णन का एक उदाहरण देखिए :—

जीहो-तोला मापा वधारिया लाला,
दश दिन महोच्छव थाय।
जीहो-बान्ध्या तोरण, बांटे सीरणी लाला,
चन्दन केशर हाथां दिराय ॥ राणीजी ॥
जीहो-यादव नारी सांवटी लाला,
आवे गावे गीत।
जीहो-चौक पुरावे मांडणा लाला,
साचविये शुभ रीत ॥ राणीजी ॥[3]

---

१. जयवाणी, पृ० ३६३
२. जयवाणी,—३१८
३. जयवाणी,—३३६

(४) रूप-वर्णन

इन सभी कथा काव्यों में रूप-वर्णन मिलते हैं। ये रूप-वर्णन तीन प्रसंगों पर किये गये हैं—जन्म के अवसर पर, विवाह के अवसर पर एवं मुनि-दर्शन के अवसर पर। इन वर्णनों में आये हुए उपमान प्रायः परम्परागत हैं। द्रौपदी के जन्म होने पर उसका जो रूप-वर्णन किया गया है वह अत्यधिक लुभावना एवं अद्वितीय है—

कुवांरे रूप माहे रलियामणी,
मुख बोले अमृत-वाण रे लाला।
मीठो शाकर कन्दसी,
वलें भासे हित मित जाण रे लाला।
नयण सलूंणो रे कन्यका ॥
अधरशशी सम सोभतो,
पुनि पूरण भरियो भाल रे लाला।
नयन-कमल जिम विकसता,
वेहू बाँहे कमल नी नाल रे लाला ॥ नयन० ॥
नाशिका दीपे शिखा समी,
गकवेसर लहे नाक रे लाला।
दन्त जिसा दाड़िम - कुली,
मृग-नयनी सूरत पाक रे लाला ॥ नयन० ॥[1]

भगवान नेमिनाथ का रूप-वर्णन भी प्रभावशाली बन पड़ा है—

सांवल वर्ण शरीर विराजे,
एक सहस्र आठ लक्षण छाजे।
दिन दिन अधिकी ज्योति विराजे,
दर्शन दीठां दारिद्र्य भाजे।[2]

विवाह के लिए नेमिनाथ रथ पर यात्रा सजाकर चले हैं। रथ में बैठे हुए वे ऐसे लगते हैं मानो ग्रह-नक्षत्रों के बीच चन्द्र हों—

नेम कंवर रथ बैठां छाजे,
ग्रह नक्षत्र में जिम चन्द विराजे।[3]

---

१. जयवाणी,—२६७-२६८
२. जयवाणी,—२१७
३. जयवाणी,—२२२

प्रकट किया गया है। वात्सल्य, शृंगार, शान्त, वीर, वीभत्स एवं हास्य रस के छींटे अनेक स्थलों पर देखे जा सकते हैं। कवित्त्व का स्फुरण इन्हीं स्थलों पर हुआ है। जहाँ कहीं परिपाक में बाधा पहुँची है, उसका प्रमुख कारण कवि के उद्देश्य-भोगपरक जीवन की निस्सारता एवं योगपरक संयमनिष्ठ जीवन की श्रेष्ठता का बीच-बीच में आ जाना ही रहा है। कवि का दृष्टिकोण आध्यात्मिक होने के कारण रस-निरूपण की दृष्टि से इन रचनाओं में शान्तरस की ही प्रधानता है। प्राय: सभी रचनाओं की परिसमाप्ति शान्त रस में हुई है, शृंगार, वात्सल्य, वीर आदि शान्त रस के सहयोगी बनकर ही आये हैं।

शान्त रस :—

शान्त रस के सम्बन्ध में भरतमुनि ने कहा है—ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय के निरोध करने वाले और आत्म-निष्ठ (साधक) के द्वारा प्राप्य, समस्त प्राणियों के लिए सुखकर व हितकर शान्त रस है जहाँ न दु:ख रहता है न सुख, न द्वेष और न ईर्ष्या रहती है। समस्त प्राणियों में समभाववाला वह शान्त रस प्रसिद्ध माना गया है।[१] जैन साहित्यकारों ने शान्त रस को ही रसराज माना है। इस रस का स्थायीभाव है वैराग्य या शम। तत्व-चिन्तन तप, ध्यान, स्वाध्याय, समाधि आदि विभाव है, काम, क्रोध, मान माया लोभ मोह का अभाव अनुभाव है। धृति, मति आदि संचारी भाव हैं। सच तो यह है कि जहाँ देह धर्मिता छूट जाती है, समरसता की स्थिति आ जाती है, वहीं शान्त रस का परिपाक होता है। शान्त रस का रस राजत्व इसलिए सिद्ध है कि सभी रसों का उद्गम भी इसी रस से होता है और सबका समावेश या विलय भी इसी में होता है। मानव जीवन की समस्त प्रवृत्तियों का उद्गम शान्ति से ही होता है।[२]

जैन आचार्यों ने वैराग्य-भावना की उत्पत्ति के दो साधन बताये हैं—तत्त्वज्ञान व इष्ट वियोग व अनिष्ट संयोग। राग की अतिशय प्रतिक्रिया ही वैराग्य है। जैन कथा-काव्यों में जितने भी नायक हैं वे सामान्यत: भोग-भोग-

ओर मोतियों की जाली लगी हुई है।[1] जुते हुए बैलों का क्या कहना ? दोनों बैल समान जोड़ी के हैं, वे भली प्रकार सजाये गये हैं :—

बलदां रे झूलज सोभती,
नाके नथ रसाल रे लाला ॥
राखड़ी सींगां में सोभती,
गल बांधी गुग्घर माल रे ॥ श्री० ॥
सोना री गले में सांकली,
रूपा रो टोकरियों जाण रे लाला।
सोना री खोली सींग में,
दोय इसड़ा बलदज आण रे ॥ श्री० ॥
कमल रो सोहे सेहरो,
लटके सींगा रे मांय रे लाला।
नथ सोने रेशम री भली,
तिणसूं नाक दोरो नहीं थाय रे ॥ श्री० ॥[2]

दीक्षा-प्रसंग का भी कवि ने वहुत विस्तार से वर्णन किया है। दीक्षार्थी राजा के साथ अनेक मंत्रिगण एवं अन्य राजा भी दीक्षा ग्रहण करते थे।

सहस पुरुष साथ करी रे, संजम लियो जिनराय रे ॥
हूँ तो नेम नमूं रे बावीसमां।[1]

दीक्षा-प्रसंग में वर्षीतप का, दान देने का, लोच करने का, माता-पिता की मार्मिक अनुभूति आदि का रोचक वर्णन किया गया है।

(ख) भावरूप में वर्णन :—

इन वर्णनों में इतिवृत्त की प्रधानता नहीं है। इनमें मार्मिक एवं भावात्मक स्थलों का समावेश होता है। इनमें मन के विभिन्न भावों को अनेक प्रकार से

---

१. रथ हलको घणो बाजणो वले च्यार पेडा रो जाण।
अशुद्ध शब्द करे नहीं, लागे लोकां ने सुहाण ॥ ३ ॥
हलवा काष्ट नां झूसरो, वले चोड़ा पेड़ा जोत।
मोत्याँ री जाली लग रही, छती शोभा को उद्योत ॥ ४ ॥
—जयवाणी, पृ० ३२६

२. जयवाणी, पृ० ३२६-३२७

३. जयवाणी, पृ० २२८

प्रकट किया गया है। वात्सल्य, शृंगार, शान्त, वीर, बीभत्स एवं हास्य रस के छींटे अनेक स्थलों पर देखे जा सकते हैं। कवित्त्व का स्फुरण इन्हीं स्थलों पर हुआ है। जहाँ कहीं परिपाक में बाधा पहुँची है, उसका प्रमुख कारण कवि के उद्देश्य-भोगपरक जीवन की निस्सारता एवं योगपरक संयमनिष्ठ जीवन की श्रेष्ठता का बीच-बीच में आ जाना ही रहा है। कवि का दृष्टिकोण आध्यात्मिक होने के कारण रस-निरूपण की दृष्टि से इन रचनाओं में शान्तरस की ही प्रधानता है। प्रायः सभी रचनाओं की परिसमाप्ति शान्त रस में हुई है, शृंगार, वात्सल्य, वीर आदि शान्त रस के सहयोगी बनकर ही आये हैं।

शान्त रस :—

शान्त रस के सम्बन्ध में भरतमुनि ने कहा है—ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय के निरोध करने वाले और आत्म-निष्ठ (साधक) के द्वारा प्राप्य, समस्त प्राणियों के लिए सुखकर व हितकर शान्त रस है जहाँ न दुःख रहता है न सुख, न द्वेष और न ईर्ष्या रहती है। समस्त प्राणियों में समभाववाला वह शान्त रस प्रसिद्ध माना गया है।[1] जैन साहित्यकारों ने शान्त रस को ही रसराज माना है। इस रस का स्थायीभाव है वैराग्य या शम। तत्व-चिन्तन तप, ध्यान, स्वाध्याय, समाधि आदि विभाव है, काम, क्रोध, मान माया लोभ मोह का अभाव अनुभाव है। धृति, मति आदि संचारी भाव हैं। सच तो यह है कि जहाँ देह धर्मिता छूट जाती है, समरसता की स्थिति आ जाती है, वहीं शान्त रस का परिपाक होता है। शान्त रस का रस राजत्व इसलिए सिद्ध है कि सभी रसों का उद्‌गम भी इसी रस से होता है और सबका समावेश या विलय भी इसी में होता है। मानव जीवन की समस्त प्रवृत्तियों का उद्‌गम शान्ति से ही होता है।[2]

जैन आचार्यों ने वैराग्य-भावना की उत्पत्ति के दो साधन बताये हैं—तत्त्वज्ञान व इष्ट वियोग व अनिष्ट संयोग। राग की अतिशय प्रतिक्रिया ही वैराग्य है। जैन कथा-काव्यों में जितने भी नायक हैं वे सामान्यतः भोग-भोग-

---

१. बुद्धीन्द्रिय कर्मेन्द्रिय संरोधाध्यात्मक संस्थितोपेतः ॥
सर्वप्राणि सुखहितः शान्तरसो नाम विज्ञेयः ॥
यत्र न सुखं न दुखं न द्वेषो नापि मत्सरः ।
समः सर्वेषु भूतेषु स शान्तः प्राथितो रसः ॥ —भरत मुनि ।

२. डा० नरेन्द्र भानावत: साहित्य के त्रिकोण—२८२-२८३

कर ही योग मार्ग की ओर अग्रसर होते हैं। राग की अतिशयता के ही कारण निर्वेद भावों की उत्पत्ति मानने से जैन साहित्य की शान्त रसात्मक कृतियों में भी शृंगार रस का जमकर वर्णन मिलता है। सुवाहुकुमार, महारानी देवकी, उदायीराजा, मेघकुमार आदि अपने प्रारंभिक जीवन में सांसारिक भोग-विलास में लिप्त रहते थे, किन्तु इस भोग की प्रतिक्रिया स्वरूप वे जीवन के संध्याकाल में वैराग्य मार्ग पर चल पड़ते हैं।

कवि ने इन कथा-काव्यों में नायक के द्वारा इस संसार की असारता को वहुत ही निवृत्त रूप से अनेक स्थानों पर कहलवाया है। सुवाहुकुमार माता-पिता से प्रवज्या ग्रहण करने की आज्ञा माँगते हैं, किन्तु माता-पिता उसका वियोग क्षण-मात्र भी नहीं चाहते। सुवाहुकुमार तव माता-पिता को संसार की असारता के वारे में वताते हैं :—

अध्रुव अनित्य अशास्वता रे, उपद्रव लगा है अनेक।
वीजल झवका नी परे रे, जल-परपोटो लेख ॥
डाभ-अणी-जल 'विंदवो ए, जैसो संझा नो राग।
सुपन दर्शन नी ओपमा ए, सड़न पड़न ए लाग ॥
पेलो पछे देह छोड़नी ए, कुण जाणे मा चाल।
मां वेटा खवरां नहीं ए, कुण कर जाये काल ॥

यहाँ निर्वेद भाव प्रधान है। इसका आशय सुवाहुकुमार स्वयं है। आलम्वन संसार की असारता है। इस संसार के उपद्रव उद्दीपन हैं।

वात्सल्य रस :—

सन्तान के प्रति माता-पिता आदि की अनुरक्ति अथवा उनका स्नेह वात्सल्य कहलाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि विद्वानों ने इसे अलग से नहीं स्वीकार किया है। उनके अनुसार शृंगार का स्थायी भाव रति है। स्नेह, प्रेम, भक्ति-वात्सल्य आदि इस रति के ही अंग हैं। पर डा० नगेन्द्र ने वात्सल्य रस की अलग से सत्ता स्वीकार की है। उनका कहना है कि वात्सल्य भाव मातृवृत्ति का मनोभव अनुभव हैं और मातृवृत्ति निश्चय ही जीवन की अत्यन्त मौलिक वृत्ति है, पुत्रैपणा जीवन की सर्वाधिक प्रवल एपणा है जिसका जीवन के दो परम पुरपार्थों, धर्म एवं काम से घनिष्ठ सम्वन्ध है अतः वात्सल्य के रसत्व का निपेध नहीं किया जा सकता और न उसका शृंगारादि में अन्तर्भाव ही उचित है और न केवल भाव-कोटि तक ही उसका विकास मानना ठीक होगा। आचार्य विश्वनाथ वात्सल्य रस के वारे में लिखते हैं—

अथ मुनीन्द्र सम्मतो वत्सल :

स्फुट चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।
स्थायी वत्सलता स्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम् ॥

अर्थात् इसका स्थायी भाव वत्सलता है। यह विशुद्ध निःस्वार्थ प्रेम 'वत्स' के प्रति है। छोटे बालक आलम्बन, माता-पिता आदि गुरुजन आश्रय हैं। सन्तान की भोली भाली चेष्टाएँ—तुतलाना, चंचलता, हंसना आदि उद्दीपन विभाव है। आलिंगन, मुग्ध होना, गोद में उठाना आदि अनुभाव है। श्रृंगार रस के समान वात्सल्य रस के भी दो भेद संयोग वात्सल्य एवं वियोग वात्सल्य है।

जयमल्लजी के इन कथा-काव्यों में वात्सल्य रस के अनेक स्थल हैं। राजकुमार या राजा, तीर्थंकर या साधुओं की वाणी सुनकर प्रवज्या धारण करने को तत्पर होते हैं तब माता-पिता का वत्सल भाव उमड़ पड़ता है। महारानी देवकी तो वात्सल्य की साकार प्रतिमा ही है। सुबाहुकुमार की माता पुत्र के दीक्षा लेने के संकल्प को सुनकर तड़प उठती है।

लागे घणो तूं सुहामणो रे, रतन करंड समाण,
उंबर फूल तणी परे रे, दुर्लभ देखवो जाण रे।
जाया ! बोलो बोल विचार ॥
थारो वच्छ ! वांछू नहीं रे, खिण मात्र नो विजोग।
तिण कारण माहरा डीकरा रे, विलस काम ने भोग रे ॥[1]

यह प्रवास भी कुछ दिनों का नहीं। काफी लम्बे समय का है या यूँ समझ लीजिए की हमेशा का ही है। देवकी का अपने पुत्र के लिए विलाप भी एक हृदयस्पर्शी घटना है। जिसने सात-सात पुत्रों को जन्म देकर भी मातृत्व का आनन्द नहीं उठाया। उसके हृदय में यही दर्द है कि उसने कन्हैया को हाथ पकड़कर चलाया नहीं, रोते हुए को वहलाया नहीं, ओढ़ाया नहीं। इस अनुताप में घुल-घुल देवकी सचमुच वात्सल्य की मूर्ति वन गई हैं[2]।

---

१. जयवाणी,—२१०-२११

२. जाया मैं तुम सारिखा कन्हैया, एकण नाले सात रे।
एकण ने हुलरायो नहीं कन्हैया, गोद न खिलायो खण मात रे।
वालपणा रा वोलड़ा कन्हैया, पूरी नहीं कांई आस रे।
आशा अलूधी हूँ, रही कन्हैया, भार मुई नव मास रे।

वात्सल्य रस के संयोग के चित्र भी कवि ने बड़ी तन्मयता से अंकित किये हैं। महारानी देवकी के छः पुत्र देवता के उपक्रम से मृत घोषित किये गये एवं कृष्ण को भी वह मातृत्व का प्यार नहीं दे सकी। पर जब भगवान नेमि-नाथ से उसे विदित होता है कि वे जो छह साधु हैं, वे उसके ही पुत्र हैं तो उसका मातृत्व उमड़ पड़ता है। ज्यों ही वह मुनियों के पास पहुँचती है उसकी स्नेह धारा बन्धन तोड़कर बह चलती है—

तड़ाक से तूटी कस कंचू तणी रे
थण रे तो छूटी दूधाधार रे।
हिवड़ा मांहे हर्ष मावे नहीं रे,
जाणे के मिलियो मुझ करतार रे ॥४॥
रोम-रोम विकस्या, तन मन उलस्या रे,
नयणे तो छूटी आँसू-धार रे।
विलिया तो वांहा मांहे मावे नहीं रे,
जाणे तूट्यो मौत्यां रो हार रे ॥५॥[1]

इस मार्मिक एवं हृदयस्पर्शी मिलन पर न जाने कितने मातृ हृदय न्यौछा-वर किये जा सकते हैं। संयोग-वात्सल्य का प्रत्यक्ष रूप वहाँ देखने को मिलता है जहाँ देवकी की गोद में गजसुकुमाल किलकारी मारते हैं। वह उसे प्यार से झूलाती है, आँखों में अंजन आंजती है, उन्हें अंगुली पकड़कर चलना सिखाती है।[2] इस वर्णन को पढ़कर लगता है कवि ने माँ का भावुक एवं ममताशील हृदय पाया है।

रोवतो में राख्यो नहीं, कन्हैया, पालणिये पोढ़ाय रे।
हालरियो देवा तणी, कन्हैया, म्हारे हूँस रही मन मांय रे।
आंगणिये न करावी थिरी, कन्हैया, आंगुलियां विलगाय रे।
हाऊ बैठो छे तिहां, कन्हैया, अलगो तूं मति जाय रे।
ओडणियो पहराव्यो नहीं कन्हैया, टोपी न दीधी माथ रे।
काजल पिण सार्यो नहीं कन्हैया, फदिया न दीधा हाथ रे ॥
—जयवाणी—३३२-३३३

१. जयवाणी,—३३०

२— जीहो खेलावण-हुलरावणे, लाल, चुंगावण ने पाय।
जीहो न्हवरावण पेहरावणे, लाला, अंगो-अंग लगाय ॥८॥

श्रृंगार रस :—

शान्त रस की प्रधानता होने पर भी श्रृंगार रस के संयोग-वियोग के कई मनोहर चित्र यहां देखने को मिलते हैं। संयोग का वर्णन इन रचनाओं मे अधिकांशतया वहाँ हुआ है, जहाँ संयम लेने से पूर्व नायक सांसारिक भोगों में लिप्त है। देवकी के छह पुत्र माँ सुलसा के घर में भोग-विलास करते हैं। एक-एक पुत्र के बत्तीस-बत्तीस स्त्रियाँ है, कि एक से एक खूबसूरत—

चन्द्र-वदन मृग लोयणी जी, चपल-लोचनी बाल।
हरीलंकी मृदु-भाषिणी जी, इन्द्राणी सी रूप रसाल ।।देव०।।
प्रीतवती मुख आगले जी, मुलकंती मोहन-बेल।
चतुरां ना मन मोहती जी, हंस-गमणी सूं करता बहु केल ।। देव० ।।[1]

नायक के दीक्षित होते ही श्रृंगार का वियोग पक्ष प्रारम्भ होता है। "भगवान नेमिनाथ" शीर्षक रचना में राजमती के प्रिय-वियोग के चित्र बहुत ही सुन्दर एवं स्वाभाविक बन पड़े हैं। विरह में महल अटारी उसके लिए कटारी बन गये हैं और चन्द्रकिरणें शीतलता प्रदान करने के बदले उसके तन को जलाती हैं। उसकी आँखें प्रिय दर्शन को आतुर हैं—

तरसत अंखियाँ हुई द्रुम पंखियाँ।
जाय मिलो पिव सूं सखियां ।।
यदुनाथ रे हाथ री ल्यावे कोई पतियां ।।१।।[2]

वह प्रिय को उपालम्भ देना चाहती है। 'थे तज राजुल किम गये जतिया' उन्हें सन्देश भिजवाना चाहती है। जो सखी उसका उपालम्भ भरा सन्देश लेकर जायेगी उसको वह गहनों से लाद देगी—

जाकूं दूंगी जरावरों गजरो, कानन कूं चूनी मौतिया ।।३३।।
अंगूरी कूं मूदंडी-औढण कूं फमडी पैरण कूं रेशमी धोति ।[3]

जीहो आँखड़ली अंजावणी, लाला, भाल करावण चंद।
जीहो गालां टीकी सांवली, लाला, आलिंगन आनन्द ।।९।।
जीहो पग-मांडण ग्रही अंगुली, लाला ठुमक-ठुमक री चाल।
जीहो बोलण भाषा तोतली, लाला, रिंझावण अति ख्याल ।।१०।।
—जयवाणी—३३७

१. वही पृ०—३२२
२. जयवाणी, पृ० २२९
३. जयवाणी पृ० २२९-२३०

"ऊभा रो जी, थे रो जी[1] रो जी रो जी ऊभा रो जी" जैसी पंक्तियों में मीरा से कम तड़प नहीं है। उसका यह विरह ही उसे अनन्य प्रेमिका[1] बनाकर उसे भी संयम मार्ग की ओर अग्रसर करता है और अन्त में वह साधिका बन जाती है। यह सम्पूर्ण संयोग एवं वियोग शृंगार शान्त रस की पृष्ठभूमि बनकर आया है। कथा का पर्यवसान शान्त रस में ही होता है।

वीर रस :—

वीर रस का स्थायी भाव 'उत्साह' है। यह उत्साह कभी युद्ध के लिए, कभी दान के लिए, कभी दया के लिए, और कभी धर्म के लिए प्रकट हुआ है। कार्य-भेद के अनुसार वीरों के युद्धवीर, दानवीर, दयावीर और धर्मवीर नाम से चार भेद माने गये हैं। इन कथा काव्यों के जो नायक हैं वे सम्भवत: चारों ही प्रकार के वीरों की श्रेणी में आते हैं। संयम-मार्ग में अग्रसर होने से पूर्व वे वर्षी दान देते हैं, संयम की रक्षा के लिए वे उपसर्ग परिपह आदि कठिनाईयों से बड़ी बहादुरी के साथ लड़ते हैं, प्राणीमात्र के प्रति उनके हृदय में दयाभाव है और धर्मशूर तो वे हैं ही।

नारद को कहे गये कृष्ण के इन उत्साहपूर्ण शब्दों को देखिए—

दल बादल पाछा फिरे, फिरे नदियां का पूर।
माधव वचन फिरे नहीं जो पिछम ऊगे सूर।[2]

वीर कृष्ण युद्ध करते हैं। सभी पांडव भी उनका साथ देते हैं। इस युद्ध-वर्णन में कवि ने अनेक वर्णन-रूढ़ियों का सहारा लिया है।[3]

---

१. कुण ताके तारां ने छोड़ गणी,
म्हारे सांवरिया सरीखी सूरत किसी।
म्हें दूजा भरतार नी तृष्णा त्यागी ॥नेमीसर०॥

—जयवाणी : पृ० २३०

२. जयवाणी—४१४

३. मिल जंग मचायो रे।
गगनवाण करी ने छायो अति घणो रे॥
देवता ने वले देई (वी) रे, विद्याधर केई रे।
मिल आया देखण ने युध अचिरज भयो रे।

—जयवाणी पृ० ४१८

रौद्र रस :—

कई स्थानों पर रौद्र रस का भी वर्णन मिलता है। रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध है। आलम्बन शत्रु या अनुचित कार्य-कर्ता होते हैं। कृष्ण द्वारा भेजे गए दूत को पद्मोत्तर बुरा भला कह देते हैं, तब रौद्र रस का प्रसंग उपस्थित होता है—

सिंह रे मुंडा मांय, कांई घाले आंगुली रे।
असवारां री होड करे डोशी पांगुली रे॥

यहाँ रौद्र रस का आलम्बन कृष्ण स्वयं है, आश्रय पद्मोत्तर राजा हैं, उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत पद्मोत्तर राजा द्वारा इनको बुरा-भला कहना है।

करुण रस :—

शोक अथवा दुःख की दशाओं के वर्णन में करुण-रस होता है। करुण रस का स्थायी भाव शोक है। यद्यपि शास्त्रीय लक्षणों से युक्त करुण रस का चित्रण इन कथा-काव्यों में नहीं मिलता है, किन्तु फिर भी पाठक के मन में करुण-भावों का उद्रेक इन रचनाओं को पढ़ने से अनेक स्थलों पर हो जाता है। नेमिनाथ-राजमती के प्रसंग में बंदी पशुओं से सम्बन्धित यह करुण भाव देखिए—

सींचाणा सारस घणा, जीव तणी घणी जात।
जादवराय! रोकी ने राख्या पींजरे, दुख करै दिन रात॥
जादवराय! तुम बिन करुणा कुण करै॥
हरिण सूसा ने बाकरा, सूर सांवर ने मोर।
दयालराय! केई वाड़े केई पींजरे, दुखिया कर रया शोर॥
दयालराय! तुम बिन करुणा कुण करे॥
हिरणियों हिरणी ने कहे बाहिर रह गया बाल।
दयालराय! चूगो पाणी लेवा भणी, कुण करसी साल-संभाल॥
पूरे मासे पारेवड़ी इम करे अरदास।
जादव राय! बंधन पड़िया पग माहरे, ढीला करै कोई पास।[1]

---

१ जयवाणी—२२५

हास्य रस :—

कवि ने हास्य एवं व्यंग्य के भी कतिपय अवसर उपस्थित किए हैं। नेमिनाथ विवाह के लिए इच्छुक नहीं हैं। इसके कारणों की कल्पना हास्य-व्यंग्य-प्रसूत हैं। कृष्ण की रानियाँ उन्हें चिढ़ाने के लिए कभी तो कहती हैं कि "तोरण आयां करे आरती, टीको काढ़ने सासु खांचे नाक रे" अतः इस डर के कारण ये विवाह नहीं करते, कभी कहती हैं—"बाई चित करने चंवरी चढ़े तीने फेरा लेणा पड़े लारे रे" अतः 'इम डर तो परणे नहीं रहे' एवं कभी कहती हैं—"जुवाजुई रमतां थकां रखे बनड़ो जावै हारो है बाई" और कभी "दौरो है कांकण दौरडो खेलणो पड़े एकण हाथ है बाई।" उधर राजुल की सखियाँ भी उससे हँसी-मजाक करती हैं—

सहियां कहे राजुल ! सुणो,
बाई ! कालो नेम कुरुपो ए !
भल भूपो ए—
और भलेरो लावसां के सहियां ए ॥
करी कुसामदी ताहरी,
पिण म्हारे दाय न आयो ए—
न सुहायो ए।
कालो वर किण कामरो क सहियां ए ॥[1]

इस प्रकार सन्त कवि जयमल्लजी में प्रबन्ध-पटुता वर्णन-कौशल और रसोपलब्धि कराने की अद्भुत क्षमता है। इनकी रचनाओं में कबीर का सा विद्रोह, सूर का वात्सल्य और तुलसी की सी लोकहित की भावना का अपूर्व संगम देखा जा सकता है। कवि यद्यपि रीतिकाल में पैदा हुए, पर उन्होंने वैभव विलास पूर्ण सामन्ती जीवन को महत्व न देकर सरल साधनामय आध्यात्मिक जीवन को ही महत्व दिया। ये किसी के आश्रित कवि नहीं थे। अतः इन्हें किसी लौकिक पुरुष का प्रशस्तिगान नहीं करना पड़ा। इनके काव्य में मानवता का जो सन्देश है, वह शताब्दियों तक लोगों को सात्विक जीवन जीने की प्रेरणा देता रहेगा।

---

१. जयवाणी—२३२

४. प्रकीर्णक रचनाएँ

कुछ रचनाएँ कवि की ऐसी भी हैं जो उक्त तीनों वर्गों में नहीं आतीं, उन्हें हमने प्रकीर्णक वर्ग में रखा है। ये रचनाएँ—"चन्द्रगुप्त राजा के सोलह सपने", "गौतम-पृच्छा" 'श्रीकृष्ण जी नी ऋद्धि', "भविष्य काल के तीर्थंकर" 'नाक' "दारिद्र लक्ष्मी संवाद" "प्रतिमा चर्चा" हैं।

'चन्द्रगुप्त राजा के सोलह सपने" में चन्द्रगुप्त के सोलह सपनों का लोक-परक अर्थ लगाया गया है[1] जैन साहित्य में सोलह सपने लिखने की एक सुदीर्घ परम्परा रही है। यह एक प्रकार का काव्य-रूप है। चन्द्रगुप्त राजा अपने सोलह सपनों का भद्रबाहु से तात्पर्य पूछते हैं और भद्रबाहु क्रम से एक-एक का, इस संसार के पंचम आरे में होने वाले परिणामों का अर्थ स्पष्ट करते जाते हैं।

"गौतम पृच्छा" नामक दो रचनाएँ हैं। दोनों में गणधर गौतम ने भगवान महावीर से प्रश्न किये हैं। ये प्रश्न भगवती सूत्र में आये हैं—

गौतम स्वामी पूछा करे सूत्र भगवती माँय हो।
स्वामी ! प्रत्येक मासरो बालको, नरक किसी विध जाय हो ॥[2]

कवि ने रचना के अन्त में धर्म की महिमा का प्रतिपादन किया है।[3]

श्रीकृष्ण की समृद्धि एवं ऐश्वर्य का वर्णन किया गया है। द्वारिका नगरी का यह वर्णन देखिये :—

अड़तालीस कोस में लांबी ते जाण जो ए।
छत्तीस कोस में पहुली पिछाण जो ए ॥

---

१. तीजे 'चन्द्रमा चालनी' तिणरो ए फल थासी रे।
समाचारी जुई-जुई बारोट्या धर्म थासी रे ॥ चन्द्र ॥

२. जयवाणी,—७५

३. इम जाणी धरम कीजिये
राखो ऊजल परिणाम हो।
भविजन, पोसह पड़िकमणां करो,
पामों अविचल ठाम हो ॥ सा० अ० ॥
—जयवाणी,—७६

सोना रो कोट ने रतनां रा कांगरा ए।
हेठे तो चौड़ा वलि उपर सांकरा ए॥
सतरे गज ऊँचा वारे गज नीव में ए।
आठ गज चौड़ाई में विचली सीव में ए॥[1]

कृष्ण से सम्बन्धित लोकोपकारक घटनाओं की ओर भी बहुत संक्षेप में संकेत किया गया है।[2] किन्तु यह समस्त सम्पदा देखते ही देखते नष्ट हो गई है। अतः कवि अन्त में इस सांसारिक मोह-माया को छोड़ने एवं धर्म से प्रेम रखने की सीख देता है—

"भविष्यत् काल के तीर्थंकर" में कवि ने आगामी उत्सर्पिणी में जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में होने वाले चौबीस तीर्थंकरों के नाम बताये हैं।[3]

'नाक रखना' मुहावरा हिन्दी साहित्य में बहुत प्रचलित रहा है। किन्तु इसको लक्ष्य करके पूरी एक रचना लिख देना सन्त कवि जयमल्लजी के वश की ही बात थी। सारे शरीर में सबसे ऊपर नाक ही है। नाक रखने से तात्पर्य इज्जत रखने से है। अपनी इज्जत बनाये रखने के लिए कोई दान देता है, शूरवीर युद्ध लड़ता है, साधु संथारा ग्रहण करते हैं, श्रावक गुरु के पास अपने पापों का प्रत्याख्यान करता है। कवि ने कृष्ण राम, लक्ष्मण एवं दशार्णभद्र का उदाहरण दिया है कि किस प्रकार इन्होंने अपनी इज्जत रखने

---

१. जयवाणी,—१०२

२. महाबलवन्त कालीनाग ने नाथियो।
कंस ने मार जरासिंध पछाड़ियो॥
—जयवाणी,—१०५

३. (१) महापद्म (पद्मनाभ) (२) सूरदेव (३) सुपार्श्व
(४) स्वयंप्रभ (५) सर्वानुभूति (६) देवश्रुत
(७) उदय (८) पेढालपुत्र (९) पोट्टिल
(१०) शतकीर्ति (११) मुनिसुव्रत (१२) अमम
(१३) निष्कषाय (१४) निष्पुलाक (१५) निर्मम
(१६) चित्रगुप्त (१७) समाधिजिन (१८) संवरक
(१९) यशोधर (२०) विजय (२१) मल्लि
(२२) देवाजिन (२३) अनन्तवीर्य (२४) भद्रजिन
(समवायांग १५८ वां समवाय)
—श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, ६—१६७

के लिए भयंकर कष्टों का सामना किया। शारीरिक सौन्दर्य नाक के शृङ्गार से ही बढ़ता है।[1] सबसे पहले अरिहन्त, सिद्ध एवं साधु को वन्दन भी नाक ही करता है।

"दारिद्र-लक्ष्मी संवाद" में दरिद्रता एवं लक्ष्मी का मानवीकरण कर दिया गया है। वे आपस में वार्तालाप करती हैं। वसन्तपुर नगर के सेठ सागरदत्त के यहाँ पूर्वजन्म के पापों के परिणाम स्वरूप दरिद्रता घर में आ गई। सागरदत्त उज्जयिनी नगरी में दरिद्रता का सौदा करता है। धनदत्त दरिद्रता को घर ले आता है लक्ष्मी के बदले, किन्तु दरिद्रता उसके यहाँ नहीं रहती एवं वापस लक्ष्मी ही आ जाती है। लक्ष्मी को केवल वही व्यक्ति पुण्यवन्त लगा। इस रचना में कवि ने प्रतिपादित किया है कि गरीवी एवं अमीरी अपने कर्मों के फलस्वरूप ही मिलती है।

"प्रतिमा चर्चा" रचना में कवि ने मूर्तिपूजा का खंडन किया है। कवि ने अनेक सूत्रों का उल्लेख कर वताया है कि कोई भी सूत्र मूर्ति-पूजा का समर्थन नहीं करता, पर यद्यपि इन सूत्रों से आई वातों का मूर्तिपूजक व्यक्ति अपने पक्ष में भी अर्थ लगा लेता है। कवि का कथन है कि प्रतिमा-पूजा में आरम्भ-समारम्भ ज्यादा करने पड़ते हैं। कवि पर लोंकाशाह का प्रभाव स्पष्ट दृष्टि-गोचर होता है। लोंकाशाह के समय मूर्ति-पूजा का जोरदार शब्दों में खण्डन हो रहा था। कवीर भी लोंकाशाह के ही समकालीन हैं। कवीर ने भी मूर्ति पूजा का खंडन किया है।[2]

इसके अतिरिक्त कवि ने साधु की चर्चा, साधु के दस धर्म, महाव्रत आदि आध्यात्मिक विषयों पर भी कई दोहे लिखे हैं। विषय विविधता के कारण इन दोहों को भी हमने प्रकीर्णक रचनाओं में ही सम्मिलित किया है। कुछ दोहे देखिए—

---

१. नाके सोभे तिलक सुहामणो रे,
वली मोती चुनी श्रीकार रे।
नाक विना गहणा सोभे नहीं रे,
सगले डील तणो सिणगार रे॥

—जयवाणी,—१८०

२. पाहन पूजे हरि मिले, तो मैं पूजूं पहार।
ता तें तो चाकी भली, पीस खाय संसार॥

(१) नमस्कार—

नमो सिद्ध निरंजनं, नमूं श्री सतगुरु पाय।
धन वाणी जिनराज री, सुणियाँ पातिक जाय ॥[1]

(२) गुण-स्थान-विचार—

तेरे वारे तीसरे, नहीं करे गुण-ठाणे काल।
चतुर पंच छठ सात में गोत्र बाँधे दीनदयाल ॥[2]

(३) पुद्गल-विषयक-विचारणा—

विस्सा हाथ आवे नहीं मिस्सा जीव रहत।
जीव सहित ते पओगसा श्री जिन-वाणी तहत्त ॥[3]

(५) भिक्षा-विचार—

अगन्यात कुल मुनिवर तजे करे गोचरी छांडी काल।
कर खरड़े अणखरड़िये, धन ऋषि दीनदयाल ॥[4]

और उनका आग्रह नहीं रहता था। फिर भी उनकी कविता में कवित्व का नितान्त अभाव नहीं है। ये कवि अनुभूति में जितने सच्चे और खरे हैं अभिव्यक्ति में भी उतने ही स्पष्ट और सीधे। इन्हें चमत्कार का प्रदर्शन कर किसी का हृदय जीतना नहीं था। काव्य के माध्यम संजीवन-निर्माण की सही दिशा बताना ही इनका लक्ष्य था। इस कसौटी पर सन्त कवि जयमल्लजी की काव्यकला खरी उतरती है।

भाषा—

भावों को अभिव्यक्ति देने के लिए भाषा अनिवार्य तत्त्व है। जयमल्लजी के समय साहित्य-जगत में प्रधान रूप से दो साहित्यिक भाषाएँ—पिंगल और डिंगल प्रचलित थीं। जयमल्लजी जनसाधारण को भिन्न-भिन्न विषयों पर धर्मोपदेश देना चाहते थे। अतः उन्होंने भाषा का प्रचलित व्यावहारिक रूप ही अपनाया। वे अपनी बात जनता की ही भाषा में कहने के अभ्यस्त थे। संस्कृत, प्राकृत भाषा के अनेक ग्रन्थों का अध्ययन करने के साथ ही साथ वे इन भाषाओं के अच्छे ज्ञाता भी थे, किन्तु उन्होंने अपनी रचनाएँ बोलचाल की सरल राजस्थानी भाषा में ही लिखी है, इसका स्पष्ट कारण यही है कि इनका विहार-क्षेत्र एवं कार्य-क्षेत्र भी अधिकतर राजस्थान ही रहा।

भाषा पर कवि का अच्छा अधिकार है। वह भावानुकूल उठती-गिरती है। प्रबन्ध-रचनाओं में भाषा का प्रवाह एवं माधुर्यगुण सुरक्षित है तो मुक्तक रचनाओं में उसका गाम्भीर्य और सारल्य। भाषा की प्रवाहमानता एवं मधुरता के लिए यह उदाहरण देखिये—

महाराज चढ़े गज रथ तुरिया—
हय गय रथ पायक—
सुख-दायक
नयन-कमल हसरत ठरियाँ ॥ महा० ॥
खूब बारात बनी व्यावन की।
घोर घटा उमटी झरिया ॥ महा० ॥
लाल गुलाल, अबीर अबारवों।
चऊं दिस नाच रही परियाँ ॥ महा० ॥[1]

१, जयवाणी पृ० ३२७

शब्द-प्रयोग—

वाक्य की रचना शब्दों से होती है। शब्द-चयन से ही कवि की कुशलता एवं विद्वत्ता का परिचय मिलता है। इसलिए भाषा के विवेचन में कवि के शब्द-चयन और शब्द-भंडार पर विचार करना आवश्यक होता है। आलोच्य कवि जयमल्लजी की रचनाओं में प्रयुक्त शब्द-कोष पर ध्यान देने से ही इनकी भाषा का स्वरूप समझा जा सकता है। उनके द्वारा प्रयुक्त प्रमुख शब्दों का परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है।

(१) तत्सम-शब्द –

कवि की रचनाओं में संस्कृत शब्दावली से बोझिल भाषा नहीं मिलती। इसका स्पष्ट कारण कवि की उपदेश-वृत्ति है। जनसाधारण तक अपनी बात को पहुँचाने के लिए कवि ने सीधी एवं सरल भाषा का ही प्रयोग किया है। फिर भी तत्सम शब्दों के प्रयोग से वह नहीं बच सकता है। निम्नलिखित पंक्तियों में परम्परागत उपमानों को स्पष्ट करने के लिए तत्सम शब्दावली का प्रयोग द्रष्टव्य हैं—

(१) अधर शशी सम सोभतो,
पुनि पूरण भरियो भाल रे लाला।
नयन-कमल जिम विकसता,
वेहु बांह कमल नी लाल रे लाला ॥[1]

(२) भविक जीव प्रतिबोधता, जिनवर करे विहार
पाप तिमिर निघटिया, सहस्र-किरण दिन-कार ॥[2]

प्रयुक्त तत्सम-शब्दों में से कुछ ये हैं—स्फटिक, सम्यक्त्व, शत्रुञ्जय, दीक्षा, स्निग्ध, सैंधव, आश्रव, निर्जरा, लवण, संध्या, शुश्रुषा, मनुज, दुर्लभ, कामिनि, अक्षय, अमृत, निर्वाण, अविनाशी, तिमिर, कमन्न, ज्ञान, अज्ञान, जग, अनादि उपसर्ग, विकट, अतिशय, निश्चय, व्यवहार आदि।

(२) तद्भव शब्द—

तद्भव का शाब्दिक अर्थ तत्+भव अर्थात् संस्कृत से उत्पन्न शब्द है। तद्भव शब्दों का मूल संस्कृत में मिलता है पर वे घिसपिट कर मूलरूप से

१. जयवाणी,—३९७
२. जयवाणी,—३३५

काफी दूर चले जाते हैं। कवि ने तत्सम शब्दों की अपेक्षा तद्भव एवं देशी शब्दों का प्रयोग ही अधिक किया है। इनकी रचनाओं में प्रयुक्त तद्भव शब्द इस प्रकार हैं—

दीख (दृष्टि), कसबोही (खुशबू), शीयल (शील), नागज (नाग), पांगुर्या (पांगुला), श्रावग (श्रावक), लक्कड़ (लकड़ी-काष्ट), उच्छाह (उत्साह), मेह (मेघ), खांडा (खड्ग), झीणो (क्षीण), रतन (रत्न), मूरख (मूर्ख), मिरखा-वाद (मृषावाद), तीरथ (तीर्थ), आतम (आत्मं), गाँव (ग्राम), चौथे (चतुर्थ), आदि।

(३) देशी-शब्द—

देशी शब्द वे शब्द होते हैं जिनकी उत्पत्ति संस्कृत शब्दों में नहीं ढूंढ़ी जा सकती। ये किसी भाषा विशेष में ही प्रयुक्त होते हैं। जयमल्लजी का विचरण क्षेत्र एवं प्रवचन-क्षेत्र राजस्थान ही रहा था। अतः इनकी भाषा में राजस्थानी के ही शब्द अधिकांशतया प्रयुक्त हुए हैं—

उंधी, वोल्वे, धमकाय, तेड़ाय, लुगाई, डेहडायमानो डबक्डोलो, धगांरो, आडो, लूगड़ी, बापड़ा, टेंगार, भोल्या, डिचकारी, ढांढा, दुड़वड़ियो, घटार, मठारिया, रांघण आदि।

(४) विदेशी-शब्द —

कवि ने कई उर्दू फारसी के विदेशी शब्दों को भी निःसंकोच ग्रहण किया है, यथा—मेंज, जमाली, कितोल, पेंजार, तायफा, दीदार, गवरा, गालम, वखतावर, कुरान आदि।

खड़ीवोली का प्रयोग—

कवि की भाषा खड़ीवोली मिश्रित राजस्थानी भाषा है। बोलचाल की राजस्थानी भाषा होने के कारण उसमें खड़ीवोली के शब्दों की वहुलता है। उत्तम पुरुष सर्वनाम के स्थान पर "मैं" का भी प्रयोग मिलता है—

"मैं नीठ-नीठ व्याव मनायोरे"

कहीं-कहीं गुजराती भाषा की विभक्तियाँ भी प्रयुक्त हुई हैं, जैसे-तुमेरचों।

कहीं-कहीं पर प्राकृत भाषा की शव्दावली का प्रयोग भी हुआ है। इससे सांस्कृतिक वातावरण के निर्माण में विशेष सहायता मिलती है, जैसे—
"खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया।"

पारिभाषिक शब्दावली—

कवि के शब्द-चयन की एक विशेषता पारिभाषिक शब्दावली भी है। तत्सम, तद्भव, देशी एवं विदेशी शब्दों के प्रयोग के अलावा जैन-दर्शन के तत्वों का विवेचन पारिभाषिक शब्दों के द्वारा किया गया है। ऐसे स्थल जैन-दर्शन से अपरिचित व्यक्तियों के लिए अवश्य दुर्बोध हो गये हैं, पर जिसे जैन-दर्शन का थोड़ा-सा भी ज्ञान है, वह रस लिए विना नहीं रहेगा। कुछ पारिभाषिक शब्द इस प्रकार है—

(१) आश्रव

जिन से आत्मा में आठ प्रकार के कर्मों का प्रवेश होता है वह आश्रव है[1]। कवि ने 'सुबाहु कुमार' एवं 'उदाई राजा' रचना में आश्रव, निर्जरा आदि शब्दों का प्रयोग किया है।[2]

(२) कषाय

जो शुद्ध स्वरूपवाली आत्मा को कलुषित करते हैं अर्थात् मल से मलीन करते हैं वे कषाय हैं। कवि ने उपदेशपरक रचनाओं में कषाय को त्यागने की बात कही है। चारों कषाय-क्रोध, मान, माया, एवं लोभ को त्यागने की बात कवि 'ब्रह्मचर्य विषयक स्तवन' में कहता है।[3]

(३) कर्म

आत्म प्रदेशों के साथ बंध को प्राप्त कार्मण-वर्गणा के पुद्गल ही कर्म कहलाते हैं। सिद्ध, अरिहन्त, आचार्य आदि के सम्बन्ध में कवि ने कर्मों की चर्चा की है[4]।

(४) गुप्ति

अशुभ योग से निवृत्त होकर शुभ-योग में प्रवृत्ति करना गुप्ति है।

---

१. श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह—भाग १ पृ० ६६८ (समवायांग सूत्र)

२. आस्रव संवर ने निर्जरा जाण्या छे बंध ने मोक्षो रे।

—जयवाणी—१०८

३. क्रोध, मान, माया लोभ ने त्यागी, शील पाले सब बाई रे ॥

—जयवाणी—५०

४. आठों कर्म खपाय के सीधो पंचमी गत्त,

—जयवाणी—[illegible]

कहे अनुसार तपस्या आदि करना प्रायश्चित है। "शल्य छत्तीसी" में कवि किसी भी प्रकार का शल्य नहीं रखने की बात कहता है। उसके लिए दस प्रकार के प्रायश्चित लेकर शल्य निकालने की भी बात कही गई है[1]।

(१२) मंगल

साधारण लोक में मंगल का अर्थ उत्तम होता है। शादी ब्याह में गाये जाने वाले गीतों को भी मंगल कहते हैं। मंगल काव्यों की एक सुदीर्घ परम्परा भी है। यहाँ मंगल से तात्पर्य—अरिहंत सिद्ध, साधु एवं केवली प्ररूपित धर्म, इन चार मंगलों से हैं। ये मंगल लोक में उत्तम एवं शरण देने वाले हैं। इन चारों मंगलों पर कवि ने पृथक-पृथक रचनाएँ भी की है[2]।

(१३) लेश्या

जिसमें कर्मों का आत्मा के साथ सम्बन्ध हो, उसे लेश्या कहते हैं।

(१४) शल्य

जिससे बाधा एवं पीड़ा हो उसे शल्य कहते हैं, लौकिक अर्थ में शल्य से तात्पर्य काँटे से है। ऐसा शल्य द्रव्य-शल्य होता है। इसका प्रभाव या चोट क्षणिक होती है। किन्तु भाव शल्य का प्रभाव पर-भव में भी देखा जा सकता है। अतः शल्य कोई भी नहीं रखना चाहिए। 'शल्य छत्तीसी' में कवि ने ऐसे भाव स्पष्ट किये हैं[3]।

(१५) श्रावक

साधुओं की उपासना करने वाला उपासक अर्थात् श्रावक कहलाता है। कवि ने अनेक श्रेष्ठ श्रावकों के चरित्र का गुणगान किया है, यथा श्रावक महाशतक का चरित्र। कई रचनाओं में श्रावक के १२ व्रतों का एवं इक्कीस गुणों का वर्णन किया गया है[4]।

---

१. 'प्रायश्चित दस प्रकार ना लेई ने शल्य काढ़ीजे।

—जयवाणी—१६८

२. पहले मंगल अरिहन्त नो, दूजो सिद्ध मंगलीक।
तीजो मंगल साधुनो, चौथो दया-धर्म ठीक॥

—वही—२३

३. शल्य कोई मत राखजो शल्य राख्या दुःख होय।

—जयवाणी १६८

४. दृढ़ धर्मी श्रावक हुवो एक युगल जायण सू प्रीतिजी।

—जयवाणी—३८७

(१६) सम्यक्त्व

सुदेव, सुगुरु एवं सुधर्म में विश्वास होना सम्यक्त्व है ।[1]

(१७) समिति

प्रशस्त एकाग्र परिणामपूर्वक की जाने वाली आगमोक्त सम्यक प्रवृत्ति करना समिति है ।[2]

(१८) संवर

कर्म वंध के कारण प्राणातिपात आदि जिससे रोके जांय वह संवर हैं ।

कई संख्यात्मक पारिभापिक शव्दों का प्रयोग भी कवि ने किया है, इन्हें हम शव्द रूढ़ियाँ भी कह सकते हैं—

तीन—	गढ़, गुप्ति, शल्य
चार—	कपाय, गति, मंगल
पांच—	निद्रा, महाव्रत, समिति
छः—	आरे, काया, द्रव्य
सात—	नरक, व्यसन
आठ—	कर्म
नौ—	घाटी, तत्त्व
दस—	प्रायश्चित, सम्यकत्व, वेदना, धर्म
ग्यारह—	गणधर, श्रावक की प्रतिमा
वारह—	चक्रवर्ती, तप, भावना, श्रावक के व्रत, साधु की प्रतिमा
चौदह—	गुण स्थान, दान, राजू
पन्द्रह—	कर्मादान, परमाधर्मी देव, सिद्ध ।
सोलह—	सतियाँ, स्वप्न
सत्तरह—	संयम
अठारह—	पाप
वीस—	विहरमान
इक्कीस—	श्रावक के गुण
वाईस—	परीषह

---

१. दृढ़ समकित पाले तिके, वेगा शिवपुर जाय ।

—जयवाणी—६४

२. इन सभी शव्दों की परिभाषाएँ श्री जैन सिद्धान्त वोल संग्रह के सातों भाग में से ली गई हैं ।

(८) गज असवारी छोड़ने हो, मुनिवर ।
खर ऊपर मति वेस ।[१]

(९) हुवे दुषमण कपड़ा डील रा जब करम उदय हुवे आय रे ।[२]

(१०) हाथ काँकण सी आरसी, इहाँ छे नेम जिणन्द ।[३]

(११) निरखताँ नयण धापे नहीं,
अवर चिन्ता नहीं आवे जी ।।[४]

(१२) हाथ छोड़ी कुण करे पेट मांहिली आस ।[५]

अलंकार—

अलंकार के प्रयोजन के सम्बन्ध में भारतीय काव्य शास्त्रियों में मत-विभिन्न रहा है । एक पक्ष ने "अलंकरोतीत्यलंकारः" कह कर अलंकार को परिभापित किया है तो दूसरे पक्ष ने कहा है—**अलंक्रियते अनेन अलंकारः** । ध्वनिकार आनंदवर्धनाचार्य ने वाग्विकल्पों के प्रकार को ही अलंकार कहा है ।[६] कुन्तक ने इसी वैदग्ध्यपूर्ण भंगी भणिति को वक्रोक्ति (अलंकार) माना है[७] । वामन के अनुसार काव्यग्रहण का कारण उसकी अलंकारिता है[८] । "सौन्दर्यमलंकारः" अर्थात् सौन्दर्य ही अलंकार है । आचार्य दण्डी ने काव्य के शोभाकारक धर्मो को ही अलंकार माना है ।[९]

इन सब परिभाषाओं का समाहार करते हुए प्रसिद्ध रसवादी आचार्य विश्वनाथ ने साहित्य-दर्पण में लिखा है—

---

१. वही—२३४
२. वही—२९०
३. वही—३२५
४. वही—३५४
५. वही—३७४
६. अनन्ताहि वाग्विकल्पः तत्प्रकाश एवं चालंकारः ।
—ध्वन्यालोक—आनन्दवर्धनाचार्य का० द० रामदहिन मिश्र पृ० ३२१
७. उभावेतष्वलंकारयोस्तयोः पुनरलंकृतिः ।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगी भणितिरुच्यते ।
—(वक्रोक्तिजीवित : आचार्य कुन्तक) का. द० रामदहिन मिश्र
८. काव्य ग्राह्यमलकारात् । सौन्दर्यमलंकारः ।
—काव्यालंकारसूत्र, १।१।३
९. काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रच्यक्षते ।
—काव्यादर्श : आचार्य दण्डी, २।१

(२) नाटक नाचे नव नवा,
रतन जड़ित आवास ।
(३) बेटा बहु विनय करे रे,
लुल लुल पाये लाग ।
(४) नर खापां खाँचा विरला रे ।

(२) पुनरुक्ति

जहां एक शब्द की आवृति भाव को रुचिकर बनाने के लिए हो वहाँ पुनरुक्ति अलंकार होता है यथा—

(१) लुल लुल ने लटका करे रे ।
(२) मैं नीठ नीठ व्याव मनायो रे ।
(३) जुदा जुदा नाम नगरज भाख्यौ ।

(३) उपमा

जहाँ एक वस्तु को दूसरी वस्तु के समान बताया जाये (उपमेय को उपमान के समान बताया जाय) । उपमानों के चुनाव में कवि बहुत सजग रहा है । उसकी दृष्टि केवल रूढ़िबद्ध या शास्त्रीय उपमानों पर ही नहीं रही, लोक जीवन एवं लोकमानस से भी उपमानों का चयन किया गया है यथा—

(१) कुगुरू तो कालो नागज सरिखो ।
(२) आयु घटती जाये छे जिम अंजली नो पाणी रे ।
(३) जिम पंथी रहे सराय में जी, रहयो तिम वासे ही आय रे ।
(४) इण-भव पर-भव दुःख हुवे जी, उघड़े कड़वा सा आक ।
(५) पिण परबश पड़िया जोर न लागे,
जिम दवी साँप नी ठोड़ी रे ।
(६) सिकियो तू इण संसार में, ज्यूँ भड़भूजांरी भाड़ ।
(७) हिंडोला जिम हींचीयो, गोप्या तणो इज नाथो,
(८) झुलक-झुलक माता रोवती, कुंवर सामो रही जोय ।
ए सुरती जाया ताहरी उंबर फूल ज्यूँ होय ।।
(९) ओ सोहे जिम सेन्ये गयन्दो, तू सोहे जिम पूनम चन्दो ।
(१०) चन्द्र बिम्ब ज्यूँ थोर ने भेखधारी गिणन्त ।
तेह एकंत कूड़े में पड्या, मृग ज्यूं दुःख लहन्त ।

(४) रूपक

जहाँ उपमेय में उपमान का अभेद आरोपण हो, वहाँ रूपक अलंकार होता है, यथा—

(१) साधु जी उठाया सूरमा रे ज्ञान घोड़े असवार।
कर्म-कटक दल जूझिया रे विलम्ब न कीध लिगार॥

(२) म्हारे क्षमा-गढ़-मायं फौजाँ रहसी चढ़ी री माई।
बारे भेदे तप-तणी चोकी खड़ी।
बारे भावना नाल चढ़ाऊँ कांगरे री माई।
तोड़ू आठ कर्म सफल कार्य सरे।

पहले में सन्त को शूरवीर का रूप दिया है। वह ज्ञान के घोड़े पर सवार है एवं तत्परता के साथ कर्म-सैन्यदल का नाश करता है। दूसरे में क्षमा-गढ़ में प्रवेश पाने के लिए बारह-भावना रूपी नाल की चढ़ाई और आठ कर्म रूपी किवाड़ों को तोड़ने का वर्णन है। कवि ने दीपावली का आध्यात्मिक रूपक इस प्रकार बांधा है, यथा—

काया रूप करो देहरो, ज्ञान रूपी जिन देव।
जस महिमा शंख झालरी, करो सेवा नितमेव॥
धीरज मन करो धूपणो, तप अगरज खेव।
श्रद्धा पुष्प चढ़ायने इम पूजो जिनदेव॥
दया रूपी दिवलो करो, संवेग रूपणी बाट।
समगत ज्योत उजवाल मिथ्या अंधारो जाय फाट॥
संवर रूपी करो ढाकणो, ज्ञान रूपियो तेल।
आठों ही कर्म परजाल ने दो रे अंधारो ठेल॥

इसे यों दर्शाया जा सकता है—

लौकिक दीवाली	आध्यात्मिक दीवाली
काया	देवालय
जिनदेव	ज्ञान
शंख, झालरी	यश, महिमा
धूप	धैर्य
चन्दन	तप

पुष्प	श्रद्धा
दीपक	दया
वर्तिका	संवेग
ज्योति	सम्यक्त्व
अंधकार	मिथ्यात्व
आवरण	संवर
तेल	ज्ञान
अंधकार भगाना	आठ कर्म जलाना
अक्षत	ज्ञान, दर्शन, चारित्र
हवेली	काया
मांडना	व्रत, प्रत्याख्यान
वेल-बूटे	विनयभाव
खाजा	क्षमा
घृत	वैराग्य
धन-पूजन	धर्म-पूजन
रूपचौदस को गहने कपड़े से लगाव रखना	धर्म से लगाव रखना
वही खाते की पूजा	धर्म की पूजा
रोली के तिलक के स्थान पर	धर्म का तिलक
मकान-शुद्धि	व्रत-शुद्धि

(५) उत्प्रेक्षा

उपमेय में जब उपमान की संभावना की जाती है तब उत्प्रेक्षा होती है। कवि ने अपनी रचनाओं में अनायास ही उत्प्रेक्षाओं का प्रयोग किया है एक उदाहरण दृष्टव्य है—

वचन कहे छे हो राजाजी आकरा।
जांणे पोरस चढ़ियो सूर ॥ सा० ॥

(६) दृष्टान्त

जहाँ दो वाक्यों में आये हुए उपमेय तथा उपमान के धर्मों का परस्पर बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव हो, वहाँ दृष्टान्त अलंकार होता है। कवि ने दृष्टान्त के माध्यम से जनसाधारण को उपदेश दिया है। कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं—

(१) रूधिर नो कोई खरड्यो कपड़ो, रूधिर सूं केम धोइजे रे।
हिंसा कर हुवे जीव मेलो वले हिंसा धर्म करीजे रे ॥

(२) नाक रींट देखी माखी, चित में चिंते गट के।
पिण पग पाँख लपट जद जावे, मरे शीश पटके ॥

(३) देखी नेण काजल रा भरिया जाणे दल उत्पलका।
कामी देव मारण के ताईं काम देव रा भलका ॥

(४) ऊनो पाणी ठार पिण स्वाद वो न रहे।
डोरी तोड़ी फेर, जोड़या गाँठ न मिटे ॥

(७) उदाहरण

उदाहरण अलंकार वहाँ होता, जहाँ पहले साधारण रूप से कोई वात कह दी जाय और फिर उसे समझाने के लिए उसी साधारण के एक अंश का निरूपण किया जाय, यथा—

(१) पडतो थे जिम टापरो, दीधी थूणी लगाय।
तिम मेघ संयम थी डिग्यो, पिण वीर दिधो सहाय ॥

मेघकुमार के संयम को बनाये रखने के लिए महावीर प्रभु ने सहायता दी। कवि ने यह वताने के लिए गाँव के छप्परों का उदाहरण दिया है। गिरते छप्पर को थूनी लगाकर रोका जाता है।

(२) जिम वजाज काटे कापड़ो, वांधि मांहि दे मेल।
तिम इण देव शरीर में दीधी ऋद्धि संकेल ॥

(३) सड़ण पड़ण विधंसण, तिणरी किसड़ी रे आस।
खिण एक मांही रे जासी विगड़ी, जिम पाणी मांहे पतास।

(४) डाभ अणी जल विन्दुओ,
जेहवो संध्या नो वान।
अथिर ज जाणो थारो आऊखो,
जिम पाको पीपल पान ॥

(८) श्लेषवक्रोक्ति—

श्लेप वक्रोक्ति में श्रोता एक वात कहे और सुनने वाला उसका वह अर्थ न करके दूसरा अर्थ लगावे उसे श्लेप-वक्रोक्ति कहते हैं।

एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

भाटण—"हस्तिशीर्ष" "दुर्दन्त" कहावे,
मरिय मिटे पण भाज न जावे।
द्रोपदी—सूरो है संग्राम मांहे घोड़ो राले,
खूणे, बैठ रंडापो म्हारे कुण घाले।
भाटण—"महिपाल" मथुरा नो वासी,
राग वैरागी ने लील-विलासी।
द्रोपदी—वैरागी तो उरी लेवे दीक्षा,
पछे म्हारी लारे कुण करे रक्षा।

भाटण द्रोपदी के स्वयंवर में विभिन्न राजाओं का नाम ले लेकर द्रोपदी को उनका परिचय देती है, द्रोपदी इन शब्दों का श्लेष से अन्यार्थ लगा लेती है जिससे अर्थ में वक्रता आ जाती है।

(९) अतिशयोक्ति

जिस अलंकार में प्रस्तुत विषय का लोक सीमा से भी अधिक वर्णन किया जाय उसे अतिशयोक्ति अलंकार कहते हैं यथा—

दिन दिन अधिकी ज्योत विराजे,
दर्शन दीठा दारिद्रय भाजे।

इसमें पुनरुक्ति, अनुप्रास एवं अतिशयोक्ति तीनों ही अलंकारों का एक साथ प्रयोग श्लाघनीय हैं।

प्रतीक प्रयोग—

अन्य सन्त कवियों की भाँति जयमल्लजी ने प्रतीकों का विशेष प्रयोग नहीं किया है। इन्होंने अपनी बात सीधी सादी भाषा एवं शैली में ही कही है। फिर भी एकाध स्थलों पर संख्यात्मक प्रतीक एवं वर्ण प्रतीक का प्रयोग मिलता है।

(क) संख्यात्मक प्रतीक

पांचू मेली रे मोकली, छह री खबर न काय।
सातां सेती रे लग रह्यो पड़ियो आठ मद माय॥

यहाँ पाँच से तात्पर्य पाँच इन्द्रियों (श्रवणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय एवं स्पर्शनेन्द्रिय) से, छ का तात्पर्य छ काय (पृथ्वीकाय, अपकाय,

(१) प्रश्नोत्तर शैली

प्रश्नोत्तर शैली में दो प्रमुख पक्ष होते हैं—एक प्रश्नकर्ता एवं दूसरा उत्तर-दाता। उत्तरदाता के उत्तर में ही अगला प्रश्न उठ खड़ा होता है, इस प्रकार विचार क्रम आगे बढ़ता जाता है। जयमल्लजी ने इस शैली का प्रयोग बहुतायत से किया है। प्राय: राजा, तीर्थंकर या साधु से अपने पूर्व जन्म के बारे में प्रश्न करते हैं एवं ये तीर्थकर या साधु समाधान प्रस्तुत करते हैं। 'राजा प्रदेशी" की कथा प्रश्नोत्तर शैली का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। "सती द्रोपदी" में भाटीणी, एक-एक राजकुमार का परिचय द्रौपदी से कराती है और पूछती है कि क्या इससे विवाह स्वीकार है? द्रौपदी उसका वक्रतापूर्ण उत्तर देती चलती है। भगवान महावीर से किये गये गौतम स्वामी के प्रश्न भी बहुत प्रसिद्ध हैं। चन्द्रगुप्त राजा भी अपने १६ स्वप्नों के बारे में प्रश्न करते हैं और भद्रबाहु उनका समाधान प्रस्तुत करते हैं। "राजा प्रदेशी" रचना से प्रश्नोत्तर शैली का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

केशी— जाणे छे राय! तू बात रा ए,
आचार्य कितरी जात रा ए।

राजा— जाणूं छूं स्वामी नाथ ए,
आचार्य की तीन जात ए।

केशी— गुरु बोल्या राय! जाणे इसी ए,
तीनों की जात किसी किसी ए॥

राजा— कला, शिल्प, धर्म, आयरिया ए,
तीनों रा नाम में धारिया ए॥

केशी— गुरु कहे राय! जाणे इसी ए,
यांरी सेवा भक्ति करवी किसी ए॥

राजा— जाणूं स्वामी! धुर बेहु तणी ए,
कला शिल्प आयरिया भणी ए॥

२) वर्णनात्मक शैली

अपने काव्य में कवि की वर्णन प्रवृत्ति विशेष रूप से रही है। छोटी सी घटना को भी वर्णन के द्वारा विस्तार प्रदान किया गया है। चरित प्रधान

रचनाओं के अध्ययन में इन वर्णनों के सम्वन्ध में यथा प्रसंग विचार किया गया है[1]।

(३) दृष्टान्त एवं उदाहरण शैली

किसी भी गूढ़ वात को स्पष्ट करने के लिए कोई न कोई उदाहरण देना आवश्यक होता है। इससे वात अधिक स्पष्ट व प्रभावपूर्ण वन जाती है। आलोच्य कवि ने इस शैली का प्रयोग उपदेश प्रधान रचनाओं में अधिक किया है। जीव के आवागमन के चक्कर को गेंद का व तेल में पक रहे वड़े का उदाहरण देकर समझाया है। क्रोधी मनुष्य की प्रकृति का वर्णन ऐसे व्यक्ति का उदाहरण देकर किया है जिसकी आँख में मिर्च लग गई हो। समाज से लिए गये उदाहरण जन सामान्य में अधिक मान्य होते हैं। इस शैली के एकाध उदाहरण दृष्टव्य हैं—

> जुवती रच्यो इण मंडल जग में मोटो जाल।
> कामी-मिरग मारण के तांई, मूढ़ मरे दे फाल ॥
> नाकरींट देखी माखी, चित्त में चिन्ते गट के।
> पिण पग पांख लपट जद जावे, मरे शीप पटके ॥
> केसर वरणी कोमल काया, मूढ़ करे मन हूंस।
> ए पिण जहर हलाहल जाणो, जैसो थली रो तूस ॥
> देखी नैण काल रा भरिया, जाणे दल उत्पल का।
> कामी देव मारण के तांई कामदेव रा मलका ॥

(४) सम्वोधन शैली

सम्वोधन शैली में भी दो पक्ष होते हैं। एक तो सम्वोधन करने वाला एवं दूसरा जिसको सम्वोधन किया जाय। कवि ने अनेक स्थलों पर सम्वोधित करके वात कहलवाई है यथा—सुवाहु की रिद्धि के वारे में महावीर स्वामी गौतम स्वामी को सम्वोधित करके वताते हैं

> (१) इम निश्चय गौतम सुणो वीर जिणंद कहे वाय।
> सुवाहु ने इसी रिद्ध, उदय हुई छे आय ॥
> (२) वीर कहे सुण गोयमा ! भय नहीं हो पर चक्रनो कोय।
> तिहां "सुमुख" गाथापति ए हुंतो रिद्धिवन्तो सोय ॥

अधिकतर गौतम को सम्वोधित करके ही वातें कहीं गई हैं।

---

१ देखिये पृ० ८९-९६

छन्द विधान

सन्त कवि प्रवचन देते समय अपनी रचनाओं को प्राय: गा-गाकर सुनाया करते हैं। गाने व सुनाने के उद्देश्य से लिखे जाने के कारण इनमें संगीत तत्व की प्रधानता रही है, अत: छन्द-शास्त्र के नियमों का ठीक-ठीक पालन इनकी रचनाओं में प्राय: नहीं हो पाता। लय की ओर विशेष रुझान होने के कारण इन कवियों का ढालों एवं रागों की ओर ही अधिक ध्यान रहा है। जयमल्ल जी भी इसके अपवाद नहीं हैं। इन्होंने दोहे, सोरठे आदि मात्रिक छन्दों का ही विशेष प्रयोग किया है। विभिन्न ढालों के बीच-बीच में इनके प्रयोग से कथा-सूत्र में संयोजना आ गई है।

मूलत: ये रचनाएँ गाने के उद्देश्य से ही लिखी गई हैं अत: 'रे' 'जी' आदि लगाकर तथा अन्तिम वर्ण को दीर्घकर दोहा सोरठा जैसे छन्दों को भी गेययुक्त बनाने का प्रयत्न सर्वत्र लक्षित होता है यथा—

राजगृही नगरी माले बसे सुदर्शन सेठो रे।।
ऋद्धि दान करि दीपतो घणा जणा उण हेठो रे।।

इस उदाहरण में सेठ व हेठ को 'सेठोरे' और 'हेठोरे' करने के पीछे दोहे को लययुक्त बनाने की ही प्रवृत्ति प्रमुख रही है।

चरितपरक रचनाएँ कई ढालों में विभक्त की गई हैं। प्रत्येक ढाल के पूर्व उसमें प्रयुक्त राग एवं तत्सम्बन्धी तर्ज का निर्देश भी कर दिया गया है। इन ढालों में प्रयुक्त कुछ रागों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) फाग
(२) सोरठी
(३) चन्द्रायण
(४) मारू
(५) चतुष्पदी
(६) जतनी एवं
(७) धमाल

ये जिन तर्जों में लिखी गई हैं उनमें से कुछ के नाम ये हैं—

(१) कागदियो लिख भेजुं हो संगु को नहीं

(२) कोयलो पर्वत धुंधलो रे लाल
(३) ढोला रामत ने परी छोड़ने
(४) सामी म्हारा राजा ने धरम सुणावजो !
(५) गज घोड़ा देख भुलाणो रे !
(६) प्राणी कब ठाकुर फुरमायो रे !
(७) दुनिया में बहुत दगाई रे
(८) कलजुग रो लोक ठगारो रे
(९) प्राणी किम कर साहिब रीझे रे
(१०) प्राणी-ए जग सपनो लाधो रे
(११) चेतो रे मिनख जमारो पायो रे
(१२) जीवड़ला दुलहो मानव भव काई रे तू हारे
(१३) पुण्य रा फल जोवज्यो कायर मत होयज्यो रे
(१४) जीवां तू तो भोलो रे प्राणी इम रुलियो संसार
(१५) रंग महल में हो चौपड़ खेले
(१६) चितोड़ी रा राजा रे
(१७) वीर सुणो मोरी विनती
(१८) भूलो मन भंवरा कई भम्यो !
(१९) आवो काल लपेटो लेता रे
(२०) कपूर हवे अति ऊजलो रे
(२१) रुक्मण तूं तो सेणी श्राविका
(२२) मोरा प्रीतम ते किम कायर होय
(२३) जगत गुरु त्रिशला नन्दन वीर
(२४) जी हो मिथिलापुरी नो राजियो
(२५) सहेल्यां ए आंबो मोरिया
(२६) नदी जमुना के तीर उड़े दोय पंखिया ।

जब कवि स्वयं अपने व्याख्यानों में इन रचनाओं को गा-गाकर सुनाते थे, तब जनता भाव-विभोर हो उठती थी और एक निराला ही समां बंध जाता था ।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि कवि का ध्यान भावों की गहराई की ओर अधिक था, ऊपरी सजावट एवं वनावट की ओर कम। यह सही भी है कि जव भाव सच्चे हों तो उन्हें बनाने-संवारने की आवश्यकता नहीं रहती। चमत्कारवादी कवियों के समान ये उत्प्रेक्षाओं एवं उपमाओं को ढूँढ़-ढांढ़ कर उनकी झड़ी-सी नहीं लगाते। सहज रूप में लोकजीवन से जो उपमान मिल जाते हैं उन्हीं का प्रयोग कर ये अपने काव्य को सरस वनाते हैं। इनकी कविता में हमें न तो "भूषण विना न विराजई, कविता वनिता मित्र" के सिद्धान्त का पालन और न ही छन्दों का वैविध्य मिलता है। ये सच्चे अनुभूति के कवि थे और यही वात इनकी अभिव्यक्ति में भी प्रतिविम्वित है।

दार्शनिक विचारधारा

चतुर्थ अध्याय
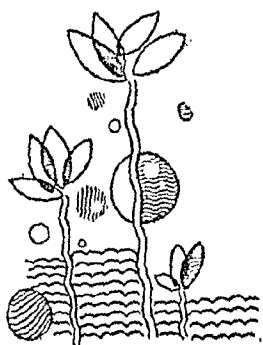
दार्शनिक विचारधारा

मनुष्य अपने आस-पास अनेक प्रकार के पदार्थ देखता है। वह संसार के बीच अपने को अकेला नहीं पाता, अपितु अन्य पदार्थों से घिरा हुआ अनुभव करता है। वह यह समझता है कि मेरा संसार के सब पदार्थों से कोई न कोई सम्बन्ध अवश्य है। किसी न किसी रूप में मैं सारे जगत् से बंधा हुआ हूँ। जिस समय मनुष्य इस सम्बन्ध को समझने का प्रयत्न करता है, उस समय उसका विवेक जाग्रत हो जाता है, उसकी बुद्धि अपना कार्य संभाल लेती है, उसकी चिन्तन-शक्ति उसकी सेवा में लग जाती है। इसी का नाम दर्शन है। दूसरे शब्दों में दर्शन जीवन एवं जगत् को समझने का एक प्रयत्न है। दार्शनिक जीवन एवं जगत् को खण्डशः देखता है, क्योंकि दोनों की अखण्ड सत्ता होती है, जिसका प्रभाव जीवन के प्रत्येक कार्य पर पड़ता है। जीवन व जगत् के इस सम्बन्ध को समझना ही दर्शन है।[1]

हिन्दी साहित्य दर्शन के ही क्रोड़ में पला है। भक्ति-काल में यह दर्शन द्वैतवाद, अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद आदि में विभक्त हो गया। आधुनिककाल में भी कवि दर्शन से मुक्त होकर नहीं चले। वे मार्क्सवाद, फ्रायडवाद, गाँधीवाद, अस्तित्ववाद आदि विभिन्न विचारधाराओं से प्रभावित रहे हैं।

हिन्दी का सन्त काव्य वैदिक दर्शन और श्रमण-दर्शन से अधिक प्रभावित रहा है। जैन सन्त कवियों की रचनाओं का मूलाधार तो जैनदर्शन ही रहा है। इसीलिए अनेक विद्वानों ने तो जैन साहित्य को दर्शन साहित्य तक भी कह दिया है, किन्तु यह स्मरणीय है कि उसमें पारिभाषिक दर्शन की सी शुष्कता नहीं है। जैन दर्शन जीवन दर्शन है। वह व्यर्थ के काल्पनिक आदर्शों के गगन की उड़ान नहीं वरन् पग-पग पर जीवन के प्रत्येक व्यवहार में ढलने की वस्तु है। हमारे आलोच्य कवि जयमल्लजी का साहित्य रचने का मुख्य उद्देश्य भी व्यावहारिकता का उपदेश देना ही है किन्तु अनेक स्थानों पर वे गम्भीर

---

१. डा० मोहनलाल मेहता : जैन दर्शन, पृ० १२

विचार एवं दर्शन के तत्वों की अभिव्यक्ति भी कर बैठे हैं। कवि की इस विचारधारा का अध्ययन हम निम्नलिखित शीर्षकों में कर सकते हैं—

आत्मा—

आत्मा सदा अमर रहती है। यह नारकी, पशु, मनुष्य एवं देवगतियों में नाना रूप पाकर भी कभी अपने अमर स्वरूप से भ्रष्ट नहीं होती। जैन दर्शन में आत्मा को ज्ञानरूप कहा गया है। आत्मा ही जीव है जो चेतन है। आत्माओं के दो भेद हैं— संसारी और सिद्ध।[1] जयमल्लजी ने आत्मा के इन दोनों भेदों का अनेक स्थलों पर उल्लेख किया है। सिद्ध आत्मा में कर्म-फल नहीं रहता। सिद्ध "आठों ही कर्म खपाय के, कीधो भवनो अन्त" एवं मोक्ष के भागी बनते हैं। संसारी आत्मा, आध्यात्मिक जीवन का विकास करते-करते अन्त में राग-द्वेष से सर्वथा रहित होकर सर्वज्ञ, सर्वदर्शी परमात्मा हो सकती है। आत्मा इस संसार में अनादिकाल से कर्म मल से मलिन है और चार गतियों में परिभ्रमण करती है। वह ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की आराधना कर कर्मों को नष्ट करती है और तभी वह शुद्ध निर्मल बन सकती है। "जीवा वयालिसी" में कवि ने बताया है कि यह संसारी आत्मा अनेक कष्ट भोगती है। अनेक योनियों में भटकता हुआ यह प्राणी अनेक कष्टों को भोगता है। इसीलिए कवि तप, जप, संयम आदि का पालन करने की प्रेरणा देता है ताकि यह संसारी आत्मा कम से कम अन्तरात्मा की श्रेणी में तो पहुँच सके।

परमात्मा—

परमात्मा का जैनेतर अर्थ ३३ करोड़ देवताओं में से किसी भी एक से हो सकता है। वह ही दूसरे शब्दों में भगवान माना जाता है। किन्तु जैन दर्शन में परमात्मा का अर्थ शुद्ध आत्मा है। राग-द्वेष को नष्ट करने के बाद ही आत्मा शुद्ध होती है। जैन धर्म, क्रोधी, मानी, मायावी और लोभी संसारी देवताओं को अपना इष्टदेव नहीं मानता। भला जो स्वयं काम, क्रोध आदि के विकारों में फँसे पड़े हैं वे दूसरों को विकारों से दूर करने के लिये क्या आदर्श हो सकते हैं? इसलिए जैन दर्शन में सच्चे देव या भगवान वे ही माने गये हैं जो राग-द्वेष को जीतने वाले हों, कर्मरूपी शत्रुओं को नष्ट करने वाले हों, तीन लोक के पूजनीय हों, केवल ज्ञान के धारक हों, परम शुद्ध आत्मा हों।

---

१ द्वितीय मंगल में सिद्ध आत्माओं का वर्णन किया है

—जयवाणी पृ० २७-२८

आलोच्य कवि ने ऐसे परमात्माओं की स्तुति बार-बार की है। यह ईश्वर जगत्कर्ता भी नहीं है। यह साधारण मानवों के समान सद्कार्य करता हुआ धीरे-धीरे परमात्मा की श्रेणी में आ जाता है। आठ कर्मों को नष्ट करके जो सिद्धि प्राप्त कर लेता है वह सिद्ध कहलाता है। ये सिद्ध अनेक हो सकते हैं—

अनन्त सिद्ध तो मुक्ति पहोन्ता,
अनन्त जासी वहु जायजी।

जैन धर्म में ये सभी सिद्ध परमात्मा होते हैं। ये सिद्ध जन्म-मरण, रोग-शोक आदि से मुक्त होते हैं—

जन्म मरण ने रोग शोक नहीं, नहीं गुण ठाणों जोग जी।
केवलज्ञान ने केवल दर्शन, केवल दोय उपयोग जी॥[1]

इस परमात्मा का रूप निराकार एवं निरंजनकारी है—

ज्योति स्वरूपी ज्योति विराजे, निरंजन निराकार जी।
ऐसी वस्तु नहीं कोई दूजी, तीन लोक में सार जी॥[2]

और यदि सुख-शान्ति चाहते हो तो बार-बार ऐसे सिद्धों को नमस्कार करो—

बीजो मंगल सिद्धों ने सहु वांदो बारम्बार जी।
ऐसी स्तुति कहे ऋषि "जयमल्ल" जो चाहो सुख सार जी॥[3]

अवतारवाद की कल्पना यहाँ स्वीकार्य नहीं है।

जगत—

जयमल्लजी ने अन्य सन्तों की भाँति जगत की असारता का वर्णन किया है। उनकी दृष्टि में यह संसार ईश्वर की सृष्टि नहीं है। यह अनादि अनन्त है। मानव इस जगत के झूंठे प्रपंचों में फंस जाता है, इससे उसका उद्धार नहीं हो सकता। संसार एक मृग-मरीचिका है। माता-पिता भाई, प्रिया सभी काल के सम्मुख कुछ नहीं कर सकते—

---

१ जयवाणी, पृ० २८
२ वही
३ वही—पृ २८

सगा सनेही बेटा पोतरा, काका बाप ने माय ।
वंधव त्रिया रे देखता रहे, जब काल झपट ले जाय ॥[1]

इस संसार में जीवन संध्या की लालिमा, डाभ की नोक पर स्थित ओस की बूंद तथा पीपल के पत्ते के समान अस्थिर एवं क्षणभंगुर है—

डाभ अणी जल बिन्दुओ, जेहवो संध्या नो बान ।
अथिर ज जाणो रे थांरो आउखो, जिम पाको पीपल पात ॥[2]

कवि ने इस संसार को सराय भी बताया है। इस अस्थिर जगत से मोह रखना उचित नहीं। कनक एवं कामिनी को कवि ने फन्दा बताया है जिसमें फँसकर मानव बुरी गति पाता है—अर्थात् इससे मुक्ति में बाधा पहुँचती है—

एक कनक दूजी कामणी, फन्द कह्या जिन राज रे ।
इण फन्द में फसिया रहे, ते मरने दुर्गति जाय रे ॥ जीवत ॥[3]

कबीर ने भी कामिनी को तीनों लोकों में नाग के समान विषैला बताया है :—

कांमणि काली नागणीं, तीन्यू लोक मंझारि ।
राम सनेही ऊबरे, विषई खाये झारि ॥[4]

कवि ने इस संसार को भड़भूजे का भाड़ बताया है—'सिकियो तू इण संसार में, ज्यूँ भड़भूजांरी भाड़ ।' अत: जगत के इन बाह्याडम्बरों को छोड़कर व्यक्ति को आन्तरिक शुद्धि की ओर अग्रसर होना चाहिए। बाह्य-शुद्धि से कुछ नहीं होता यदि आत्मा में अज्ञान रूपी मैल भरा है—

बाह्य शुचि बहुली करी, मांय तो मेल अज्ञान ॥

यदि कोई प्रत्यक्ष में मीठे वचन बोलता है और मन में कपटता रखता है तो यह ठीक नहीं—

मुंड़े तो वहु मीठा बोले, मन राखे कपटाई रे ।[5]

---

१. वही—पृ० १४०
२. जयवाणी, पृ० १४०
३. वही—१५४
४. कबीर ग्रन्थावली
५. जयवाणी—११७

साधना—

चारित्र की शुद्धि के लिए साधना के अनेक उपकरणों की आवश्यकता होती है। जैन-धर्म में माना गया है कि शरीर को कष्ट देकर ही आत्मा की आध्यात्मिक उन्नति सम्भव है। इस भव-सागर को पार करने के लिए सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र इन तीनों रत्नों को प्राप्त करना परमावश्यक है। इन्हें प्राप्त करने के लिए गुरु की आवश्यकता होती है। यह गुरु जिन भगवान द्वारा प्ररूपित शास्त्रों में बताये हुए आदर्श मार्ग पर चलकर अपने विशुद्ध आचरण तथा ज्ञान से अभीष्ट आदर्श (सांसारिक बन्धनों से मुक्ति) को प्राप्त करना चाहता है और दूसरों को भी तदर्थ मार्ग प्रदर्शित करता है। ये गुरु पंच महाव्रत, पंच आचार, पाँच समिति, तीन गुप्ति आदि का पालन करते हैं—

पाँच महाव्रत पालवे जी, पाले है पंचाचार।
पाँच समिति समिता रहे जी तीनों ही गुप्ति दयाल ॥[1]

ये गुरु-रूप साधु कमल के समान संसार में रहते हुए भी उससे निर्लिप्त रहते हैं—

सदा हो काल ऊँचो रहे जी कमल नो फूल जल मांहि।
तिम साधु ऊँचा रहे जी लिप्त संसार में नांहि ॥[2]

साधु के अलावा जैनधर्म में श्रावक धर्म की भी व्यवस्था की गई है। यदि व्यक्ति साधु धर्म अंगीकार कर सके तो ठीक, अन्यथा उसे श्रावक धर्म तो स्वीकार करना ही चाहिए—"ले सके तो ले साधु पणों, नहितर श्रावक-व्रत धर्म।" श्रावक के छः दैनिक कर्म[3] बताये गये हैं और बारह व्रत[4]।

---

१. जयवाणी—२६
२. वही—३१
३. (१) देव भक्ति (२) गुरु सेवा
(३) स्वाध्याय (४) संयम
(५) तप (६) दान

जैनागमों में श्रावक धर्म : आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज
—जिनवाणी : श्रावक धर्म विशेषांक—६-८

४. (१) स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत (२) स्थूल मृषावाद विरमणव्रत

वैदिक परम्परा में जैसे गृहस्थाश्रम के पश्चात् वानप्रस्थ का विधान है। जैन परम्परा में ऐसा ही व्रती जीवन के बाद पडिमाधारी साधना का उल्लेख है। यह श्रावक-जीवन की उत्कृष्ट साधना है।

साधना काल में अनेक तत्व बाधा उत्पन्न करते हैं। मानव चार कषाय—क्रोध, मान, माया, एवं लोभ में लिप्त रहता है। यही नहीं अन्य व्यक्ति को धर्म करते देखकर उसमें भी बाधा उत्पन्न करता है—

क्रोध, मान, माया लोभ में छकियों तू अन्याय।
साधु श्रावक देखि बलतो, देतो धर्म अन्तराय ॥[1]

अतः मुक्ति द्वार की ओर अग्रसर होने के लिए पाँच इन्द्रियों को वश में करना आवश्यक है—

राग द्वेष झट थूक दो, छोड़ो विषय कषाय।
पाँच इन्द्रियाँ वश करो, जिम मुगत विराजो जाय ॥[2]

मोह रूपी अग्नि में गिरने के बाद सुख की आशा व्यर्थ है। अतः दया-धर्म से लगाव रखना चाहिए—

मोहनी जाल मांहे पड्याजी, सुख नहीं लवलेस।
इम जाणी तुम प्राणियाजी, राख दया-धर्म रेस ॥[3]

इस संसार से निवृत्ति पाकर व्रत-उपवास आदि तप करना चाहिए अन्यथा काम एवं भोग तो इस भव में भी और अगले भव में भी कष्टदायक हैं—

---

(३) स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत (४) स्वदारसन्तोष परदार विवर्जन व्रत
(५) इच्छा परिमाण व्रत (६) दिग्व्रत
(७) उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत (८) अनर्थ दण्ड विरमण व्रत
(९) सामायिक व्रत (१०) देशावकाशिक व्रत
(११) पौषधोपवास व्रत (१२) अतिथि संविभाग व्रत

—वही—९-

१ जयवाणी—१५०
२ वही—१५१
३ जयवाणी—१२७

काम न भोग नरनार ना जी, जाणे छे फल किंपाक।
इण भव पर भव दुख हुवे जी, उघड़े कड़वा सा आक ॥[1]

मोह-मिथ्यात्व को त्याग कर मन का भ्रम हटाने से मानव मुक्ति-पथ-गामी बन सकता है। इसीलिए जयमल्लजी जीव को चेतावनी देते हुए कहते हैं—

जीवा चेतो रे, वासो वसियो आय,
जीव वटाऊ पावणोजी, जीवा चेतो रे।
जीवा चेतो रे, चट दे जीव चल जाय,
साथ न हुवे केहनो, जीवा, चेतो रे ॥[2]

अतः इस दुर्लभ मानव भव को धर्म करके ही व्यतीत करना चाहिए। आत्मा की निर्मलता के लिए, सामायिक, पौषध, प्रतिक्रमण आदि करते रहना चाहिए।

सामायिक पोषह कर, वले पड़िकमणो विशेषो रे।

मन में कोई शल्य नहीं रखना चाहिए। इससे भी मुक्ति-पथ उजागर होता है—

प्रायश्चित दस प्रकार ना, लेई ने शल्य काढ़ीजे रे।

पर-भव से डरने वाला मानव आत्म दोष का परित्याग कर देता है। व्रत पचक्खाण में यदि कोई भी दोष लग जाता है तो वह चतुर सुगुरु के पास आलोचना करता है और शुद्ध होकर मोक्ष-मार्ग का पथिक बनता है।

जैन-साधना का चरम लक्ष्य निर्वाण-प्राप्ति है। इस संसार से वैराग्य होने के बाद साधना की विभिन्न सीढ़ियों को पार करता हुआ जीव अन्त में निर्वाण प्राप्त करता है। इससे आवागमन के चक्कर से मुक्ति हो जाती है। उसके सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं। यह सब एक ही भव में प्रायः सम्भव नहीं। अनेक भवों की तपस्या एवं साधना के परिणामस्वरूप ही मुक्ति सम्भव हो पाती है। स्वयं भगवान महावीर स्वामी को भी सत्ताईस भव के बाद निर्वाण-

---

१ वही—१२८
२ वही—१३२

प्राप्ति हुई थी। यह साधना हठयोग आदि के समान कठिन नहीं है, अपितु सर्वजन करणीय एवं ग्रहणीय है।

पुनर्जन्म एवं कर्मवाद—

दार्शनिक वादों की दुनिया में कर्मवाद भी अपना एक विशिष्ट महत्व रखता है। जैन-धर्म की सैद्धान्तिक विचारधारा में तो कर्मवाद का अपना एक विशेष स्थान रहा है बल्कि यह कहना भी अत्युक्तिपूर्ण नहीं होगा कि कर्मवाद के मर्म को समझे बिना जैन संस्कृति एवं जैन-धर्म का यथार्थ ज्ञान हो ही नहीं सकता। जैन-धर्म तथा जैन संस्कृति का भव्य प्रासाद कर्मवाद की गहरी नींव पर ही टिका हुआ है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी कर्मवाद के सिद्धान्त पर ही आधारित है।

कर्मवाद की धारणा है कि संसारी आत्माओं की सुख-दुःख, सम्पत्ति-विपत्ति और ऊँच-नीच आदि जितनी भी विभिन्न अवस्थाएँ दृष्टिगोचर होती हैं, उन सभी में काल एवं स्वभाव आदि की तरह कर्म भी एक प्रबल कारण है। जयमल्लजी कहते हैं कि यदि एक व्यक्ति पालकी पर जाता है एवं दूसरा व्यक्ति नंगे पाँव जाता है तो यह उसके पूर्व जन्म के कर्मों का परिणाम है। कई ऐसे उदाहरण देकर कवि ने इस बात को स्पष्ट किया—

एक चढ़े छै पालखी रे, बोहला चाले छै जी लार।
एकण रे सिर पोटली जी, पगां नहीं पेंजार रे।
रे प्राणी पाप पुण्य फल जोय।।
एकण ने तुस ढोकला जी, पूरा पेट न थाय।
एकण रे रहे लाडवाजी, बैठा भाणे के मांय।[1]

और अन्त में इन सब अवस्थाओं में कर्म को ही प्रबल कारण माना है। कर्म के भोग में किसी की भी कृपा सहायक नहीं—

पाप करणी सुं दुख पड़े जी, धरम करणी सुं सुख।
करे जिसा फल भोगवे जी, रहे न किण री रूख।।[2]

इस प्रकार जैन-दर्शन जीवों की इन विभिन्न परिणतियों में ईश्वर को कारण न मानकर कर्म को ही कारण मानता है। कोई ईश्वर मानव द्वारा

---

१. जयवाणी, पृ० १००
२. वही, पृ० १०१

जिहाँ लग पाँचू इन्द्रिय रे परवड़ी, जरा न व्यापी रे आय।
देह माँहि रे रोग न फेलियो, तिहाँ लग धर्म संभाय ।।[1]

नरक के दारुण कष्टों से बचने के लिए मन, वचन एवं काया को वश में करना आवश्यक है—

नरक तणां दुःख दोहिला, सुणता मन कंपाय।
पाप कर्म इकट्ठा किया, मार अनन्ती खाय ।।[2]

कवि स्पष्ट शब्दों में पाप-पुण्य के कारण ही दुःख-सुख का सम्भव होना मानता है—

जेता दुःख दीशे तिके, पाप तणे परमाण।
जेता सुख दीसे तिके, धर्म तणां फल जाण ।।[3]

कर्मवाद एवं पुनर्जन्म का यह सिद्धान्त अन्योन्याश्रित है और जैन-धर्म का तो मूलाधार ही।

मुक्ति :—

कर्म-बन्धन से रहित होने का नाम मुक्ति है। मानव-आत्मा की चरम आध्यात्मिक उन्नति का परिणाम ही मुक्ति है। जैन-धर्म की मान्यता के अनुसार जब आत्मा पुराने बँधे कर्मों को भोग लेती है या धर्म-साधना के द्वारा पूर्ण रूप से उन्हें नष्ट कर देती है तथा आगे के लिए कोई नये कर्मों को नहीं बाँधती है तो फिर सदा के लिए मुक्त हो जाती है। अजर, अमर हो जाती है, राग एवं द्वेष के बन्धन से सर्वथा मुक्त हो जाती है। मुक्ति के लिए आत्मा स्वयं प्रयत्न करती है। वह ईश्वर के सामने गिड़गिड़ाती नहीं है और न ही वह नदी-नाले पार कर पैदल तीर्थ-यात्रा करती है। जैन तीर्थंकर, जो सभी मुक्ति को प्राप्त कर सके हैं, उन्होंने अपनी आत्मा में ही मुक्ति का साधन खोजा है। दया-धर्म में आस्था रखने से ही इस संसार के जाल से मुक्ति सम्भव है—

दया धर्म सूं कर तूं प्रेम।
छोड़ो तुमे संसार जंजाल ।।[4]

---

१. जयवाणी—१४१
२. वही—१४६
३. वही—१५१
४. जयवाणी—१५६

सुव्रतों के द्वारा ही बाँधे गये कर्मों का क्षय सम्भव है क्योंकि यह मानव जीवन क्षणभंगुर है। प्रत्येक सांस आती है पर पता नहीं यह कब टूट जाय। इस संसार को कच्चा घर बताते हुए कवि कहता है—

काचे घर राचो मति रे, सांस रो किसी विश्वास।
उत्तम करणी थे करो, ज्यूं पामो शिवपुर वास रे ॥[1]

शिवपुर जाने के लिए चार मार्ग—दान, शील, तप व भावना का आश्रय लेना आवश्यक है। सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र की सम्यक् साधना से ही मुक्ति सम्भव है। चरित्र की शुद्धि के द्वारा अनेक जीव मुक्ति को प्राप्त कर सके हैं—

अनन्त जीव मुक्ति गया जीवा,
टाली आतम दोष ॥[2]

चरित्र की शुद्धि राग-द्वेप को त्याग कर ही सम्भव है। इस संसार से विरक्त हो संयम ग्रहण करने से जीव को आवागमन के चक्कर से मुक्ति मिल सकती है—

कोई उत्तम नर चेतिया जीवा, लीधो संजम भार।
सांचो मार्ग पालने जीवा, पहुँता मोक्ष मझार ॥[3]

आत्मा का चरम लक्ष्य मुक्ति ही है। सम्पूर्ण जैन-साधना की परिणति अन्ततः मुक्ति में ही निहित है।

इस प्रकार कवि जयमल्लजी की विचारधारा जैन-दर्शन से पूर्णरूपेण प्रभावित है। उनका कौशल यह रहा कि उन्होंने उसे सहज एवं सरल रूप में चित्रित कर, उसे व्यवहार योग्य बना दिया है।

---

१. वही—१६०
२. वही—२७७
३. वही—१७८
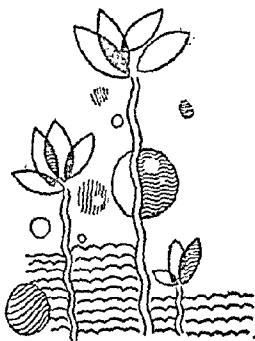
सांस्कृतिक अध्ययन

दिये हैं। ये संकेत प्रधानतः उपमानों एवं वर्णनों में देखे जा सकते हैं। अध्ययन की सुविधा के लिए हम उन्हें निम्नलिखित शीर्षकों में बाँट सकते हैं—

१. पारिवारिक जीवन-चित्रण :—

मानव सामाजिक प्राणी है। वह समाज में रहकर ही उचित जीवन-यापन कर सकता है। अनेक परिवारों का संगठन ही समाज होता है। ये परिवार उसके सामाजिक नियमों का निर्वाह करते हुए संगठित समाज का निर्माण करते हैं। इसे भी हम कई उपशीर्षकों में बाँट सकते हैं।

(क) परिवार का गठन एवं विभिन्न सम्बन्ध :—

प्राणी का जन्म परिवार में ही होता है। जन्मते ही अवस्था और पद के आधार पर पारिवारिक सदस्यों से उसके अनेक प्रकार के सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं। मानव इन सम्बन्धों का निर्वाह विवेकपूर्ण ढंग से करता है। जयमल्लजी की चरित्रपरक रचनाओं के अध्ययन से सूचित होता है कि उस समय संयुक्त परिवार प्रथा प्रचलित थी। 'भगवान नेमिनाथ' एवं 'सती द्रोपदी" में संयुक्त परिवार का संकेत मिलता है। परिवार में पुत्र का माता से अधिक स्नेह होता था। पुत्र संयम लेने से पूर्व सर्वप्रथम माता से ही आज्ञा लेता था।[1]

पारिवारिक सम्बन्धों की दृष्टि से माँ वाप भाई,[2] भूआ[3] वहन,[4] देवर[5], सास,[6] आदि के उल्लेख मिलते हैं। विवाह के समय दहेज में दास-दासियों

---

१. कुंवर कहे माता सुणो दीजे मुज आदेश।
संजम ले होसूं सुखी, काटण-करम कलेश ॥

—जयवाणी, ३०२

२. वोले भाई दोनुं वान।

—जयवाणी, १८६

३. वहु सत्कार सम्मान दे, दीवी भूवा ने सीख

—जयवाणी, ४१३

४. वहन सुनन्दा देखने रे, उठी मोहनी झालो रे।

—जयवाणी, ३१०

५. हूँ समुद्रविजय जी रो डीकरो, तू सोच करे छे केमो।

—जयवाणी, २३३

(समुद्रविजय जी के लड़के से तात्पर्य राजमती के देवर से है)

६. सासूजी थांका सही।

—जयवाणा, ३७३

एक पुत्र को जन्म देती है।[1] तीर्थंकर पार्श्वनाथ एवं शान्तीनाथ की माताएँ भी चौदह स्वप्न देखती हैं। पुत्र जन्म के बाद छप्पन कुमारियाँ एवं चौंसठ इन्द्र आकर उत्सव मनाते हैं। देवकी तो आठवें पुत्र के होने पर अत्यन्त ही प्रसन्न होती है। 'सारी नगरी की शोभा करी और बाजे विविध निशाण।' प्रजा को मिठाई बाँटी गई। स्त्रियों में हर्ष समा ही नहीं रहा है, वे गीत गाकर बधाई देने लगीं, चौक पूरने लगीं।

(२) **नामकरण** :—

जन्मोत्सव के बाद नामकरण संस्कार होता है। पार्श्वनाथ स्तवन में बताया गया है कि सभी को खाना खाने बुलाया जाता है और नामकरण किया जाता है—

न्यात मिली जीमण कीधो,
मिल पास कुंवर नामज दीधो।

देवकी के लाडले पुत्र का नामकरण बारहवें दिन होता है।[2]

(३) विवाह :—

मानव जीवन का सबसे महत्वपूर्ण संस्कार विवाह है। इसका भारतीय धर्मशास्त्र में बड़े विस्तार से वर्णन मिलता है। भारतीय संस्कृति में विवाह वह संस्कार है, जिसमें युवक-युवती का जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध भाग्य द्वारा निश्चित किया हुआ समझा जाता है। विवाह सम्बन्ध में सांस्कृतिक दृष्टि से एक महत्वपूर्ण संकेत हमारे कवि ने किया है कि विवाह योग्य अवस्था होने पर ही इस महत्वपूर्ण संस्कार का प्रसंग उठाया गया है।[3] उस समय बहु विवाह की प्रथा प्रचलित थी।[4] विवाह स्वयंवर द्वारा भी सम्पन्न होते थे।

---

१. तिण अवसर ते धारिणी—सुपने सिंह ने देख।

—जयवाणी—२०३

२. जीहो बारसमो दिव आवियो, लाला
नाम दियो अभिराम।

—जयवाणी—३३६

३. योवन वय आण्यां थका, कीवी सगाई अभिराम।

—वही—३३८

४. जाव जोवन पाम्यां थका परण पांच सौ नार।

—वही—२०३

द्रौपदी का विवाह स्वयंवर द्वारा होता है। भाटण द्रौपदी को स्वयंवर मण्डप में बैठे राजाओं के पास क्रमश: ले जाती है। अन्त में द्रौपदी पाँच पांडवों के गले में वरमाला डालती है।

भगवान नेमिनाथ शीर्षक रचना में विवाह सम्बन्धी अनेक रीति रिवाजों का वर्णन किया गया है। तोरण पर दुल्हे के आने पर लड़की की माता टीका करती है। उस समय नाक पकड़ने की प्रथा भी थी,[1] फेरे के लिए चवंरी बनाई जाती है जिसके चारों ओर दुल्हा-दुल्हन को अग्नि के समक्ष फेरे खाने पड़ते हैं। जुवां-जूई खेलने की[2] एवं विवाह से पूर्व वर-वधू के बाँधे गये कंकण खोलने[3] की प्रथा का वर्णन भी नेमिनाथ के प्रसंग में कवि ने किया है।

विवाह के निमंत्रण के लिए पीले चावल भेजे जाते हैं, कृष्ण इन्द्र को कहते हैं—

विगर बुलायां आविया रे, थाने किण पीला चावल दीधा।

विवाह के अवसर पर भोज भी दिया जाता था। उस समय माँसाहार का प्रचलन था। नेमिनाथ के विवाह के अवसर पर राजमती के आवास पर भोज के लिए अनेक पशुओं को वाड़े में बाँध रखा था। नेमिनाथ उनका करुण-विलाप सुनकर सारथी से पूछ बैठे।

प्रत्युत्तर में सारथी ने कहा।

यां जीवां रो होसी संहारो,
पोखीज सी तुमरो परिवारो।

(४) दहेज :—

भारतीय विवाह की एक प्रमुख रूढ़ि है, कन्या के साथ-साथ भेंट में गृहस्थ जीवन उपयोगी सामान का देना। प्राय: प्रत्येक राजकुमार को ढेरों वस्तुयें दहेज में मिलती थीं। कवि ने दहेज प्रथा का विस्तृत वर्णन किया है।[4]

---

१. तोरण आयां करे आरती
टीको काढने सासू खाचे नाको रे। —वही—२१९

२. जुवांजुई रमता थका, रखे वनडो जावे हारी हे वाई—
—जयवाणी—२०३

३. दोरो है कांकण दोरडो, खोलणो पणे एकण हाथो हे वाई!
—वही

४. इसी कृति में वर्णन शीर्षक में इसका उदाहरण दिया है।
—वही—९४

(५) मृत्यु : समाधि मरण :—

साधारणतः मरण दो प्रकार के होते हैं :—नित्यमरण तथा तद्भवमरण। प्रतिक्षण आयु आदि का ह्रास होते रहना नित्यमरण और शरीर का समूल नाश हो जाना तद्भवमरण है। नित्यमरण का क्रम तो निरन्तर चलता रहता है और उसका आत्म परिणामों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता, लेकिन तद्भवमरण के अन्तर्गत कषायों एवं विषयवासनाओं की न्यूनाधिकता के अनुसार आत्म परिणामों पर अच्छा अथवा बुरा प्रभाव अवश्य पड़ता है।[1] इस तद्भवमरण की सम्यक् परिशुद्धि के लिए संलेखना का विधान किया जाता है[2] मरण का इतना सुन्दर वरण अन्यत्र दुर्लभ है। यदि योग्य आहार-विहार और औषधोपचार करते हुए भी शरीर पर उनका अनुकूल प्रभाव न हो प्रत्युत व्याधि बढ़ती जाये तो ऐसी स्थिति में उस शरीर को दुष्ट की तरह छोड़ देना ही श्रेयस्कर है। मृत्युपर्यन्त अन्न-जल का त्याग कर संथारा ग्रहण करना चाहिए।

जयमल्लजी ने मृत्यु पूर्व संथारा करने की बात अनेक स्थलों पर कही है। शान्तिनाथजी ने एक मास का संथारा किया था।

संथरो एक मास तणो,
सम्मेत शिखर सिद्ध ठाम भणो।

अर्जुनमाली भी पन्द्रह दिन का संथारा करता है—

छः महिना लग चारित्र पाल्यो,
अर्ध मास रो संथारो संभाल्यो।

२. सामाजिक जीवन-चित्रण :—

समाज शब्द में ही संगठन-शान्ति, सांस्कृतिक विकास आदि के भाव समाविष्ट रहते हैं। मानव के उन गुणों का विकास भी समाज में ही संभव है जिनसे संस्कृति एवं सभ्यता का विकास होता है। इसको भी हम इन उप विभागों में विभाजित कर सकते हैं :—

---

१. तत्वार्थराजवार्तिक, पृ० ७-२२

२. मरणान्त के समय भूतकालीन समस्त कृत्यों की सम्यक आलोचना करके शरीर और कषायादि को कृश करने के निमित्त की जाने वाली सबसे अन्तिम तपस्या।

—जैन आचार—१२०

(क) मनोविनोद के साधन :—

जीवन में मनोविनोद का भोजन और पानी के समान ही महत्वपूर्ण स्थान है। बाल्यकाल से लेकर वृद्धावस्था तक व्यक्ति इसके लिए लालायित रहता है। सामान्यजन एवं राजवर्ग दोनों के मनोविनोदार्थ खेले जाने वाले खेलों के उल्लेख जयमल्ल जी के काव्य में मिलते हैं।

स्कंदक ऋषि की बहिन रानी सुनन्दा एवं राजा पुरुषसिंह चौपड़ खेलते हैं। छोटे बालक सैर को जाते थे।[1]

(ख) सामाजिक व्यवस्था :—

जाति-पांति का भेद उस समय नहीं था। साधु निम्न जाति से लेकर उच्च जाति तक के व्यक्तियों के यहाँ से आहार ग्रहण करते थे। शर्त केवल यही थी कि व्यवहार निर्दोष हो—

ऊँच नीच मझम कुले,
इरजा जोतो हो गुरु आज्ञा जाय।

उच्च कुलीन भी यदि कपटी एवं पापी है तो वह नीचे कुल का ही व्यक्ति माना जाता था।

आश्रम व्यवस्था जैसे स्पष्ट उल्लेख तो नहीं मिलते पर राजा मोज-ऐश्वर्य का जीवन बिताने के अनन्तर प्रौढ़ होने पर साधु वृत्ति ग्रहण कर लेते थे।

(ग) पर्वोत्सव :—

पर्वोत्सव में पर्युषण पर्व का सर्वाधिक महत्व माना गया है। इसके भाद्रपद मास में मनाये जाने का संकेत मिलता है। इस पर्व को अन्य लौकिक पर्वों की भाँति नहीं मनाया जाता वरन् व्रत-उपवास आदि रखकर धार्मिक क्रियाएँ करते हुए आध्यात्मिक पर्व के रूप में इसे मनाया जाता है।

(घ) त्यौहार :—

दीपावली—दीपावली सबसे बड़ा त्यौहार माना गया है। जयमल्ल जी ने इस लौकिक दीपावली के माध्यम से आध्यात्मिक दीपावली का रूपक बाँधा है। दीपावली के दो दिन पूर्व ही से उत्सव मनाये जाते हैं। रूप चवदस के दिन भली-भाँति स्नान कर नये वस्त्राभूषण पहने जाते हैं—**'राखे रूप चवदस दिन, गहणा कपड़ा री चूंप।'**

---

१. एक समय रमता थकां रे, बारे चाल्या बाल।

—जयवाणी, १८८

कार्तिक की अमावस्या के दिन दीपावली त्यौहार आता है। दीपकों से घर सजाया जाता है। वन्दनवार टांकी जाती है। घर साफकर मांडने मांडे जाते हैं। मिष्ठान आदि वनाये जाते हैं जिनमें प्रमुख खाजा है। रात्रि को लक्ष्मीजी का पूजन होता है। इन सब लोक व्यवहारों का वर्णन कवि ने वड़ी भावुकता के साथ किया है।

(ङ) विश्वास एवं मान्यताएँ—प्रत्येक जाति की संस्कृति का घनिष्टतम सम्वन्ध उसमें प्रचलित विश्वासों एवं मान्यताओं से रहता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि जातीय जीवन के संगठन और नियन्त्रण में विश्वासों एवं मान्यताओं का बड़ा हाथ रहता है।

(च) पौराणिक विश्वास—भारतीय संस्कृति में पौराणिक विश्वासों का वड़ा महत्व है, क्योंकि वास्तव में पुराणों में उसका यथार्थ स्वरूप लक्षित होता है।

वेदों में पुत्र के विना मुक्ति स्वीकार नहीं की गई है। यही वात कवि ने भृगु पुरोहित के द्वारा इस प्रकार उच्चरित करवाई है—

पुरोहित बेटा ने इम कहे रे, वेद में इसो रे विचार।
पुत्र बिना गति नहीं हुवे रे, तमे सुख विलसो संसार ॥[1]

(छ) शकुन सम्बन्धी मान्यताएँ—इन मान्यताओं की सत्यता की परख की या कराई नहीं जा सकती, किन्तु समाज का वहुत वड़ा भाग इन्हें मानता चला आ रहा है। कवि जयमल्लजी ने भगवान नेमिनाथ कथा काव्य में इन तथाकथित शकुनों का वर्णन किया है। राजमती का दाहिना (जीवणा) अंग फड़कता है जो किसी अशुभ कार्यों का सूचक है। अत: उपचार के लिए सखिया कहती है ऐसी वात मत वोलो और तुरन्त ही थूंक दो।

३. विविध व्यवसायी :—

विविध व्यवसायियों का वर्णन कवि ने जीव की वार-वार जन्म लेने की अवस्था को वताने के लिए किया है। 'न सा जाई न सा जोणी' रचना में वताया है कि मानव को इन सव योनियों में अवश्य ही घूमना पड़ता है। इन योनियों के वर्णन में ही अनेक व्यवसायियों का नाम आया है, यथा—कोली, भंगी, तेली, खटीक, ठग, धोवी, सुनार, नाई, सोदागर, जाट, चारण, कायस्थ,

---

१. जयवाणी—१२०

जुलाहा, दिवान, भांड़, वाजीगर, भाट, रंगरेज, चण्डाल, हाकिम, कोतवाल आदि ।

यहीं पर चारों वर्णों का भी उल्लेख मिलता है—

ब्राह्मण क्षत्रिय ने बांण्या रे,
शूद्र वर्ण चारे ही आण्यारे ।[1]

पर कवि ने वर्ण व्यवस्था को परम्परागत रूप में समर्थन नहीं दिया है। उसकी दृष्टि में वर्ण का सम्बन्ध जन्म से न होकर कर्म या गुण से है। इसीलिए अर्जुनमाली, सद्दालपुत्र (कुम्भकार) और हरिकेशी (चाण्डाल) अपने गुणों के कारण समादृत हो सके ।

४. सामान्य जीवन-चित्रण :—

चेतन जगत के समस्त प्राणियों की प्रमुख आवश्यकताएँ केवल तीन हैं— आवास, भोजन एवं वस्त्र । तीनों की ओर कवि की दृष्टि इस प्रकार रही है—

(१) आवास :–

सुबाहुकुमार के लिए उसके पिता पाँच सौ प्रासाद बनवाते हैं जो 'ऊँचा जाय लगे आकाश ।' छः ऋतुओं में वे भिन्न-भिन्न आवास में रहकर आनन्द भोगते हैं ।

वैराग्य पद में जीवन की असारता को वताने के लिए सराय में रुके पथिक का वर्णन किया गया है। यहीं पर कवि ने अप्रत्यक्ष रूप से आवास के एक स्थान सराय का भी वर्णन किया है—

जिम रहे पन्थी सराय में जी,
रह्यो तिम वासे ही आय रे ।[2]

मृगालोढा नी सज्झाय में मृगा पुत्र एक अन्धेरी कोठरी, जिसे राजस्थानी भाषा में भूंहरा कहते हैं, में रहता है ।[3]

(२) खान-पान :—

खान-पान का वर्णन वहुत कम मिलता है। कार्तिक सेठ तपस्वी के कथनानुसार खीर बनाता है—

खीर रंधावे कार्तिक रे ।

---

१. जयवाणी—८६
२. जयवाणी—१२४
३. भूहरा माहे छाने राखे ।

चावल-दाल का भी वर्णन आया है। मेघ कुमार साधु बनने के बाद अपने राजसी जीवन का स्मरण करता हुआ कहता है—

अठे मांग न खावणो,
कठे घरा रा चावल दाल जी।[1]

मृगालोढ़ा की माता अपने पुत्र को चावल ही भुँहरे में जाकर खिलाती है।

(३) शृंगार-प्रसाधन :—

प्राय: उस समय उवटन किया जाता था, चन्दन अगर का सुगन्धित लेप किया जाता था।

तीर्थंकर या साधु सन्त के दर्शनार्थ जाते समय रानियाँ शृंगार करती थीं। विविध प्रकार के आभूषण एवं वस्त्र धारण कर वे रथ में बैठकर जाती थीं।

मृगालोढा की माता गौतम को लेकर भुहरे में जाती है उससे पूर्व "राणी मेला में आय ने रे वसतर पेहर्‌या आय रे' का संकेत मिलता है।

एक दो स्थानों पर आभूषणों का भी वर्णन आया है। मोती के हार का उल्लेख तो कवि ने अनेक स्थानों पर किया है! उदाई राजा जब दीक्षार्थ जाता है, तब जुलूस निकलता है—'इत्यादिक जलूस कर कड़ा मोती न हार। गहणा विध-विध भांतरो।'

रत्न-जड़ित मूदड़ी, तांबा री मूदड़ी, नथ, कान का आभूषण आदि का उल्लेख अम्बड सन्यासी की ढाल[2] में मिलता है।

५. राजनीतिक जीवन-चित्रण :—
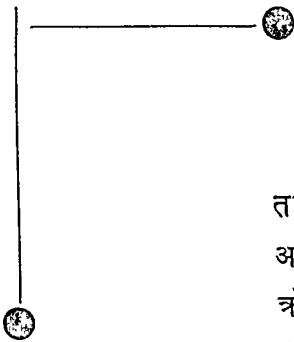
ये सन्त कवि राजनीतिक प्रलोभनों से बहुत दूर थे, इसलिए इनके काव्य में राजनीतिक जीवन सम्बन्धी विशिष्ट तथ्यों के उल्लेख विस्तार में नहीं मिलते फिर भी अनेक स्थलों पर राजनीति से सम्बन्धित कई बातों के संकेत अवश्य मिलते हैं।

राजा जहाँ मन्त्रियों और अन्य कर्मचारियों को लेकर बैठता था उसे

---

१. जयवाणी, ३८०
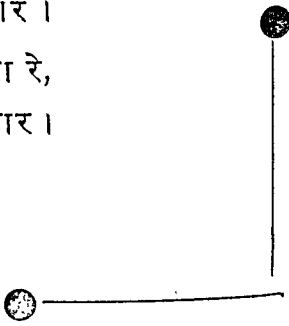
२. न नथ ए मोकलो ए। तांबा री मूंदडी एक के॥
फूलां री जाति अनेक छए ज्यांरी जुदी जुदी प्रमाण के,
कमल छ मोकलो ए काना नो आभरण जाणो के॥

तामस तपियो नर इसो,
आँख मिरच जिम आंजीरे ।
क्रोध विणासै तप सही,
दूध विणासै कांजी रे ।

× ×

साधु जी ऊठ्या सूरमा रे,
ज्ञान घोड़े असवार ।
कर्म कटक दल जूंझिया रे,
विलंव न कीध लिगार ।
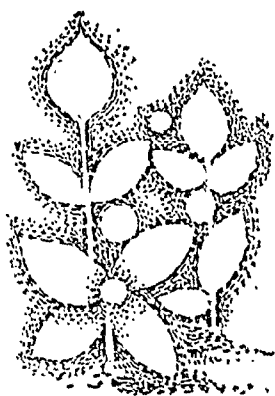
परिशिष्ट

अम्बड सन्यासी की ढाल[1]

दूहा :—

आगे अतीत ऐहा हुआ सुणी जो चित्त लगाइ ।
ग्यानी देव प्ररूपीया सूत्र उवाई मांही ।।१।।
आठ प्रावजक ब्रामण तणो आठ ष(क्ष)त्री नी जाणी ।
च्यारों वेद मुख सूं किया, ग्यानी जुगति बखाणी ।।२।।
अन पानी ब्राह्मण तणो तो चार श्रद्धारी ढाल मांही ।
सुचि धर्म प्ररूपता लोकां मांहि गठाई ।।३।।
माहरो धर्म करता थका, सुख सरगा में जाई ।
आठ कर्म छ केहवा, ते सुणीयां चित्त लगाई ।।४।।

ढालः —

धर्म अराधी थए ।
जीहां प्रावजक ने कलप नहीं ए ।
कुवां तलावने मांही ।
नदी नाला वावड़ीए ।
जीव समुद्र गाहा ।
मरजादा करी एहवी ए ।।१।।
ग्यान नहीं मनमांक वाल तपसी कहै रे
जिण धर्म की खबरीक नाहीं ।।२।।
कुवांदिक में पेसे नहीं ए
असनान करवो नहीं कोइक ।
मारीग वीचो मोकलो ए
आडो प्याणी कहीइक ।।३।।

---

१. यह प्रति श्री विनयचन्द ज्ञान भंडार, जयपुर में सुरक्षित है ।

गाड़ी रथ नहीं बेसणु ए ।
जीव सुख असण मांही ।
चढी नहीं चालणु ए ।
ऐसी मरजादा करइक ॥४॥
घोड़े हाथी नहीं वइसणु ए ।
ऊंट वलद न ऐम ।
भैंसा वदली ऊपरे ए
चढी चालवो नेम की ॥५॥
नइण चीख मन होयो वणु ए ।
एही संगीत ने इन्द्रजालक ।
अखाड़े नहीं वसणु ए ।
मोने कलपै नहीं तीन कालो ॥६॥
हरि फली नीक जाता तेहनो रस ।
ठोकर नहीं लगार के
मारीग में आया थका ए ।
जाच्यां वीना नहीं लेंइक
चाले मारीग जोइ के ॥७॥
च्यारि विकथा करे नहीं ए
चोर राजा दिकभाड के ।
प्रजोजन विना ए ।
ताणी लाग अनरथ डंडकै ॥८॥
नहीं कलपै लोहरा पातरा ए
जीहा वहु मोला जाणी के
मोकली तीन जाती रा ए
माटी तम्बू का सिजाणी के ॥९॥
पातरा नहीं कलपे धातना ए
वहु रंग कपड़ो जाणी के
सोना गेरू रंग ए के
भंगी धोवी सत्रु प्रमाणी के ॥१०॥
गहणा री जाति अनेक छ ए ।

म्हाने कलपै नहीं वसेख ।
न नथ ए मोकलो ए
तांबा री मूंदडो एक के ।।११।।
फूलां री जाति अनेक छ ए ।
ज्यारीं जुदी-जुदी प्रमाण के ।
कवल छ मोकलो ए
काना नो आभरण जाणी के ।।१२।।
जान जावे कलपे नहीं ए ।
चन्दणादिक नो विलेप के
गंगा नीं माटी मोकली ए
जोड़ी लगा विलेप के ।।१३।।
वहता पाणी कलसो भर ए
पीवा नो प्रमाण के
सोही वहतो थको ए
पड़ीया नो पचखाण के ।।१४।।
ते पाणी पीणो निरमलो ए
हेठे कायो नहीं होइको ए ।
जिको पांणी छाणी न ए
काठो कपड़ो हाथ रखे ।।१५।।
भगाड़ी रा लोहधर भीजे जीको ए
हेठेलो न कलपे कोइक ।
जीकोपाणी जांचता ए ।
दातार मील्यो पीछलइक ।।१६।।
इण रीति कष्ट करे घणु ए ।
खावण पीवण रो सन्तोप
घणा वरत पाली न ए
जाइ पहुँचे देवलोक ।।१७।।
जाणो दस सागर नो आउखो ए
धर्म विरिधीक हो एक ।
अम्वड ना सिख सात सैं ए
ज्यांरी साभलीये सोइक ।।१८।।

पाणी छाणी ने पीवणु ए
सचितना मरजादी ए।
फांसु ते जीणी नहीं।
अणजाच्यारो पचखाण के।
सात सै सीख अम्वड तणा ए
भीसम जेठनो मास के
'किंपलपुर' सूं चालिया ए
'पुरीमताल' नगर में आ बिसा ए ।।२०।।
गंगा तट जाता थका ए
पाणी गद छे इक सगलो पी गयो ए।
त्रीषा लागी छ आइके ।।२१।।
अटवी छावी अति घणी ए।
दातार दीसे नहीं कोइक ।
सात सो सुरीवी ए ।
माहुं माही वतलाइक ।।२२।।
दसु दीसा सहु जाइ न ए
गवो करो नदी तीर के
पावन अटवी उलांग चलो ए
सोगन मोटा छे सार के ।।२३।।
गवेषणा कीधी अति घणी ए
दातार दीसे नहीं कोइक
सात सै असुरी था ए
वोल्या वात तेवर होइके ।।२४।।
वरत सा जीवो कलप नहीं ए
वीजो कारी न ल्या में काइके
गंगा तणी रेत मैं ए दीधो संथारो थाइके ।।२५।।
मुंडा खने गंगा वहे ए।
अण जाच्यो त्याग के ।
थूक ज्यारां सुखी गया ए
असड़ी त्रिपा अपार के ।।२६।।

भंड उपगरण न पातरा ए
बीजा उपगरण फेरी के,
माली न पावड़ी ए
पूछी ने करी दिया ढेर के ॥२७॥

दूहा :—

गंगा नदी ओवधार ने लुवीज तिण ठाइ ।
भीषम महिनो जेठनो तट गंगा ने आइ ॥१॥
सात सै ही सूरिमा, अम्बडना सिख जाण ।
मन मांही साठा घणा जिणवर वचन प्रमाण ॥२॥

ढाल :—

जोइये सुवारथ ना सगा······
समकति नो रस प्रगमे रे (ए देशी)
डील प्रमाणी ढीगलो रे
रेत नारी पडी लेइ कीधो एकणी ठाइरे ।
सातसै ही सुरी ।
मांहि किण मंतर ।
वेराग आय इ दिवल मांही रे ॥१॥
जोइये अम्वड ना सिख सात री ।
सुणीया सूं इचरज थाइ रे ।
असड़ो संथारो कोई वीरलो करे रे ।
ग्यान करी प्रभोव समुझाइ रे ॥२॥
पीलगं आसणादिक पुरिव दीसा रे ।
दीनों माथे ही हाथ चढाइ रे ॥३॥
निमोथणु कीय सिद्धा भणी रे ।
जी वो मुक्त विराज्यो जाइ रे ।
दूजो कीधो छे अरिहन्त शरणां रे ।
प्रभु वो मौखि जीवण रा कामी रे ॥४॥
ज्यांने पांचू अंग नीमाइ रे ।
वन्दणा करि छे वारंवार रे ।
तीजो नमोत्थुणं अम्बड भणी रे ॥५॥

हमारो धर्म आच्यारीज सार रे।
सइर उपदेश सांभलो जारी मुख थको।
धीर सुरावग ना व्रत बारा रे।
व्रत लेई त्रिवार्धी करि रे।
सूरि पचख्या अठारे ही पाप रे ॥६॥

अठै करां छा में आखइड रे।
प्रभु देखी रहो छो आप।
असणदिक चारू आहार नो रे।
जावो जीव पचक्खाण रे ॥७॥

सात सै सन्यासी काया भणी रे।
वोसरावी छे सांस उसांस रे।
भलो थानं आऊ पूरो किया रे
पाँच में देवलोक कीधो वास रे ॥८॥

दस सागर नो आउखो रे।
धर्म का सरव अराधीक रे।
सिख तो अम्वड ना सारा थाइ रे
अम्वड ना सिख सात सइरे ॥९॥

दोहा :—

पूछा अम्वड तणी ऊसी भइ, करेज गौतम साम।
एक मन थइ सांभलो, हिवड़ै राखो फाम ॥१॥

ढाल :—

म्हारां राजा ने धरम सुणाइवे ! एहनी……

माहोमांही वहु जिन कहे,
किपल नगर मंझारी हो स्वामी।
सोम घर करजिए पारणु
सव धरि माहीं जाइजी ॥ स्वामी ॥
अम्वड सिनासी ऐहवो,
मानी जे ए केम हो ॥१॥
वलता वीर इसड़ी कहे
हे तो सभी सांची वात हो ॥ स्वामी ॥
अम्वड़ सिनासी ऐहवो ॥२॥

म्हारों पणा मांही प्ररूपणो,
ऐहा जाण सुख्यात हो ॥३॥
इन रो अरथ किसो छे,
सोमघरा को करि के खाइ हो ।
अम्वड जी छे एकलो
सोमघरी किम सुहाइ हो ॥ गौतम ॥४॥
वीर कहे सुणि गोयमा,
यो प्रकृति नो भद्रीक हो गोयम !
जाव वेले वेले पारणा ।
अंगी इ रहत करि ठीकि हो ॥ गौतम ॥५॥
सूरिए सामी आतपना ।
लीधी शुद्धि प्रणामी हो ।
तिणं सूं वेक्रियक लब्धि उपनी
तपस्या करता ऐम हो ॥ गौतम ॥६॥
लोका न इचरज उपजावतो
तपरी महिमा थाइ हो गोयम ।
तिण सूं अम्वड ऐहवो
सोमघरां पारणो कराइ हो ॥ गौतम ॥७॥
अम्वड ए सुख छोड़ी न,
दीख्या लेवा समरथ हो ।
वीर कहे समरथ नहीं ए ।
सुरावरग ना व्रतधारी ए ॥ गौतम ॥८॥
सुरावग व्रत चोखो पालि ने
टालसी निज नो दोस हो ।
आलोइ ने संलेखी
जासी पांच म देवलोक हो ॥ गौतम ॥९॥
दस सागर नो आउखो
धर्म अराधीक थाइ हो ।
भरीया पंडारा जनमसी
महाविदेह खेत्र मांही हो ॥ गौतम ॥१०॥

अनुक्रम मोहो होसी
अम्वड नो यो जीव हो ।
कली भणी मुनिवर होसी,
तपसी घोर अति सार हो ।। गौतम ।।११।।

केवल ग्यान उपज्यां इम
जासी मुगत मंझार हो ।
सूत्र अनुसारज में लिखी
'सूत्र उवाई' अधिकार हो ।। गौतम ।।१२।।

मानीजे ए केम हो स्वामी,
मुझ उपरी कृपा करो ।
मां वातां इचरज आई हो
अम्वड सिडासी ऐहवो ।। गौतम ।। १३ ।।

।। इतिश्री अम्बड नी सज्झाय ।।

मृगालोढा की ढाल[1]

श्री वीतरागायनमः

सासण नायक समरिये, भगवन्त श्री विरधमान ।
घणा जीवा ना तारका, दीधा छ काया-दान ।।१।।

अरिहन्त, सिद्ध, सुसाधु जी केवल भाषित धर्म ।
ए च्यारू मंगलीक छे, वीजो मिथ्या भर्म ।।२।।

श्री आचारांग आद दे, अग्यारमो अंग विपाक ।
चरित्र मृगालोढा तणो सुण जो सूत्र नी साख ।।३।।

ढाल :—

पांचवा गणधर सुधर्म स्वामी
तिण ने जम्बू पूछे सिरनामी
पहला अध्ययन न अर्थ कहेवा ।
सुधर्म जी कहे जम्बू सुण जेहवा ।।१।।

तिण काले न तिण समै हुँतो,
मृगा नगर बहुवर्ण संजुतो ।
नगर तणो ईसान दिस जाण
चन्द्र वृख नामे उदाण ।।२।।

सुधर्म जखनो हुँतो देवल ।
पूर्ण भद्र नो वरण निर्वाण ।
विजय नामे तिहा राजा जाणी ।।३।।

तिहने कुन्ती है मृगावती राणी ।
राय राणी नो वर्णन सुखदाई ।
ते देखाल्यो सूत्र नथाई ।।

---

१ यह प्रति श्री विनयचन्द ज्ञान भंडार में सुरक्षित है ।

विजय पुत्र मृगा अंगजात,
मृगा बालक नाम कहात ॥४॥

जन्म अंध बहरो ने मूंगो,
हुण्ड-मुण्ड, पांगुल न गूँगो ।
भसम-दाह रोगाकुल काया,
अवयव अंग कोढाया ॥५॥

नहीं बालक ने नाक न कान ।
आकार मात्र अंग उमंगा ॥
बाहिर दीसण रो नहीं ढंगा ॥६॥

भुंहरा मांहे छाने राखे,
घर नो भेद न बाहिर भाखे ।
राणी भात पाणी दे छाने
रखै बात पड़े किन पाने ॥७॥

तिण नगर एक जन्म नो अन्ध ।
वसे पुरुष रूप विकरन्द ॥
एक पुरुष सूझतो पकड़ी,
खंचा चाले आगल कड़ी ॥८॥

मस्तक चाड़ी बिखर्‌या केस,
देखो नी करमा री रेस ।
माँगत भीख मारतो भटका,
लारे माखी देती चटका ॥९॥

मृगा गाम ने घर-घर बार,
दो भिख्या करतो पुकार ।
हिव सांभलजो आगल ऐम ।
समोसरण पहुँचे अंध जेम ॥१०॥

तिण अवसर श्री वीर जिणंद ।
बाग पधार्‌या सुर नर वृन्द ॥
विजय राजा पिण वांदण आयो ।
कोणक जस तप तेज सवायो ॥११॥

दोहा :—

इण अवसर ते अंध नर, देखता ने कहे ऐम ।
कुण महोछव इन नगरीय, इत रीझाए केम ॥१॥
देखत नर इसड़ी कहे, महोछव छे नहीं कोय ।
वीर जिणंद समोसर्या, वन्दण जाय सोय ॥२॥
अंध पुरुख तेहने कहे, हूंपंण वांदी वीर ।
ते नर लकड़ी पकड़िया लायो भगवंत तीर ॥३॥
समोसरण भगवन्त ने, वैठा सुर नर वृन्द ।
अन्ध पुरुप वन्दणा करे, कहे तिखुत्तो पाठ ॥४॥
भगवन्त दीधी देसना, सगला ने हित लाभ ।
परिषदां सुण हरकत थई, आवी जिण दिस जाय ॥५॥
वड़ सीख श्री वर्धमान तो इन्द्रभूति अणगार ।
अंध पुरुप नी पूछा करे ते सुण जो हिय द्वार ॥६॥

ढाल :—

तप सरीखो ए जग कोई नहीं रे एहनो देशी······

हाथ जोड़ी कहे वीर ने,
विनो करि सोह में ।
जोय हो स्वामी,
अंधा नर केईव घणा ।
पण इसड़ा ही आंधा होय हो स्वामी ।
हूँ अरज करूँ छूं विनती ॥१॥
वीर जिणंद इसड़ी कहे,
गुन गौतम म्हारी वात मुनिवर ।
एक आंधो दीठो हूंव,
तो ए आंधो किण भांत हो गौतम ।
उपगारी इम उपदिश ॥२॥
कहे गौतम कुण अंध अछे,
रहे छे कुण से ठाम ओ स्वामी !

रुण्ड-मुण्ड किसड़ो इ छे
कीसूँ उणरो नाम हो स्वामी ॥३॥

वीर कहे निश्चय करी
'मृगा नगर' ने मांहे हो गौतम ।
'विजयराज' नो डीकरो
'मृगारानी' मात कहाय हो गौतम ॥४॥

'मृगा-पुत्र' नाम डीकरो
जन्म तणो छे अंध हो गौतम ।
अंध रुण्ड-मुण्ड घणा,
हाथ न जावे दुगंत हो गौतम ॥५॥

भस्म वाध दाह अति घणी
जोवे राणी सार विशेष हो गौतम ।
वन्दणा करी गौतम कहे,
आंधा न देख हो स्वामी ॥६॥

वीर जिणंद आज्ञा दिये
जिम तिणे सुख थाय हो गौतम ।
आज्ञा पाय इरजा जोवता,
मृगारानी रा घरां जाय हो स्वामी ॥७॥

रानी दीठा गौतम आवता,
हिय हरख वहु थायो स्वामी ।
ए आसण सेती उठनै,
सात-आठ पग जाय हो स्वामी ॥८॥

वन्दणा कर राणी कहे,
किस्यो प्रजोजन आज हो स्वामी !
कहे गौतम हूँ आवियो
पुत्र देखण काज है बाई ॥९॥

मृगाराणी तिण अवसरे,
पछे जाया चारुँ बाल हो स्वामी ।
आभूषण सिणगार ने,
पाये पड़िया तितकाल हो स्वामी ॥१०॥

देखो हमारा ए डीकरा,
वलता गौतम कहे वाय है वाई ।
इहाँ थि प्रजोजन कोई नहीं,
थारो मोजी पुत्र दिखाय है वाई ॥११॥
भुंहरा मांही छाने रहे
ऊ जन्म तणो छे अंध हे वाई ।
मृगा पुत्र नामे अछे
सगलो ही कह्यो है सम्बन्ध है वाई ॥१२॥
उन वालक ने अन पाणी
तू करती सार संभाल है वाई ।
विचरे छे इण रीत सूं,
देखूं थारो वाल है वाई ॥१३॥
मृगा रानी वलती कहे,
कोई वार न जाणंता न हो स्वामी ।
कुण ग्यानी थाहरें ऐहवो,
कही म्हारे छानेडी वात हो स्वामी ॥१४॥
सुण प्यारी देवता तणी,
अपने नाण सिद्ध रहे वाई ।
धर्माचार्य म्हारां भगवन श्री महावीर रहे ॥१५॥

दोहा :—

इम चरचा करता थका, भात पाणी नी थई वार ।
ले जाता गौतम भणी दोखण नहीं तिवार ॥१॥
कदाच जो दोखण तणो, तो आज्ञा न देता साम ।
गौतम न देखण तणो उपनो कतोहल काम ॥१॥
'मृगारानी' इम कहे पग छातो मुनिराय ।
भात पाणी हूँ ल्याय ने पुत्र दिखा लूँ आय ॥३॥

ढाल :—

पुण्य सदा फल ... ए देशी ।
राणी मेहलां में आय ने रे ।
वसतर पेहर्‍याँ रे आ रे ।

भूंडी गंध ने कारणे रे ।
जोड्यों कर्मा ना जोड़ा रे ।।१।।

धिग धिग कर्म ने ।
कर्म सगो नहीं कोयो रे ।
प्रतख देख लो;
मृगा लोढा नी सोयो रे ।।धिग०।।२।।

रसोडे आय गूठलो भर्‌यो रे ।
असणादिक भरपूर ।
आगल डोरडा खींचती रे ।
आई गौतम हजूरो रे ।।३।।

गौतम ने राणी कहै रे ।
आवो म्हारीं थे लारे ।
सांभल रिस केड़े चल्या रे ।
पहुँता भुहरा रे बारो रे ।।धिग०।।४।।

च्यारां पुरा नी मुहंपत्ती रे ।
राणी ना मुख बाँध ।
कहै गौतम ! थेई बाँध लो
आई भुंहरा नी साँधो रे ।।धिग०।।५।।

गौतम बांधी मुंहपत्ती रे,
आठ पुड़त तिण वार ।
मृगा राणी तिहां खोलियो रे ।
भुहरा तणो दुवारो रे ।।धिग०।।६।।

राणी मुख पूठो कियो रे
गंध निकली तिण माही
साण साप गौनामडा रे ।
तिण थी अधिक कुहांथो रे ।।धिग०।।७।।

आहार गंध आया थका रे।
बालक हर्षत थाय।
मूर्च्छा गृद अति ही हुओ रे।
चारू आहार करायो रे ॥धिग०॥८॥
आहार तुरत विगड गया रे।
थयो लोही ने जी राध।
तेही वल खाय गयो रे।
इसड़ो रोग अगाधो रे ॥९॥
बालक देख गौतम तणा रे।
अध-अवसाय मन थाय।
पूरव भव इन बालके
जाड़ा पाप करायो रे ॥धिग०॥१०॥
मोटा व्रत भांजने रे।
इण सल न काढ़िया कोय रे।
प्रायश्चित लेय कीधो नहीं रे।
पच्चखाण दीधा खोया रे ॥धिग०॥११॥
जूना पाप चिरकाल ना रे।
उदय हुवा छे है एह।
अथवा नरक में उगर्या रे।
भोगवे छे नर तेहो रे ॥धिग०॥१२॥
में इन नर के दीठा नहीं रे।
ए भोगवे पृथक पाप।
मृगा रानी ने पूछने रे।
वलिया गौतम आपो रे ॥धिग०॥१३॥
मृगा नगर थी नीकल्या रे।
आवे जिहाँ महावीर।
तिक्खुतो नी वन्दना करी रे।
पूछा करे सधीरो रे ॥धिग०॥१४॥

दूहा :—

आग्या माँगू हूँ आपनी गयो तो नगर मंझार ।
प्रभु जी कह्यो सो देखियो तिण में फेर न सार ।।१।।

वात सहु राणी तणी, वालक नो वृत्तान्त ।
गौतम प्रभुजी आगलै प्रकाश्यो करि खंत ।।२।।

पूरव भव ए कुण हुन्तो रहतो नगर कुण गाँव ।
कीधी चामुं कीवा कीवा कांसूँ हुँतो नाम ।।३।।

गोत्र इणा रो कुण हूँतो सूँ किया सूँ जाड़ा पाप ।
तिण सूँ हुवो वालक इसो कृपा करो प्रभु आप ।।४।।

गौतम गणधर आददे, वीजा हि वली साथ ।
वीर कहे गौयम सुणों, इण कीधा अपराध ।।५।।

ढाल :—

कपूर हुवे अति ऊजलो । ऐहनी ।

तिण काल ने तिण समे जी,
इण जम्बूदीप मंझार ।
नगर सेदवार भरत खेत्र में जी ।
वरणवे रिध अधिकार हो गोयम ।।१।।

पूरव भव सुण एम,
निसचई करी ने जाण जेई ।
कर्म किया इण जेम हो गोयम ।।२।।

तिण सुंद्वार नगर तणो जी,
हुँतो अधपति राय,
वर्णन "उवाई सूत्र" में कहयो
विस्तार लगाय हो गोयम ।।३।।

नहीं दूर अति टूँकड़ो जी,
अगन कुण दीस जाण ।
सदुवार नगर थकी जी
खेड़ो विजय वरधमान हो गोयम ।।४।।

धूल कोट थल भुमिका जी,
रिद भवन विस्तार ।

थफो (को) गाँव पांच से तणो जी,
लागे तिण री लारे हो गोयम जी ॥५॥
तिण खेड़ा विषे हुँतो जी,
एकाई रठ कुंड,
अधमी जीव किण सुख हुवा जी
विगरत मुख नो नूर हो गोयम ॥६॥
ओ किण ने दुःख नुपजेवा (?)
तो मन हरखत थाय ।
जो किण रे सुख सांभल्या जी,
मुख देखो कुम्हलाय हो गोयम ॥७॥
करतो खेड़ोनी हाकमी जी,
पाँच से गामा रो काम ।
सार संभाल करतो थको जी,
आग्या मनाय आराम हो गोयम ॥८॥
में ठीक पणे ए विचरंतो जी,
तिण ही खेड़ा ने माँहि
करतर धन-धान खोसतो जी,
आकरा कर लगाय हो गोयम ॥९॥
धान खलो न में देख ने जी ।
इधका भरण भराय
चाड़ा सुकोमल चग्रही जी
लोभे ग्राम में राय हो गोयम ॥१०॥
लहणो अणकूं माँग ने जी,
लारे प्यादा मुक रइत हेलो पुकारजी ।
न मानत कांई कूक हो गोयम ॥११॥
एकण माथे दण्ड करा के,
देतो घणा सिर नाख ।
किण ने ही तिणकारने जी,
वचन माहे वहु वांक हो गोयम ॥१२॥
अधिको धानज कूंतने जी,
चाके द्रव्य न भाल ।

म्हारे वाप दे इक राजा,
पछे पाडे इहवाल हो गोयम ॥१३॥

चोरा ने वहु पोखने जी,
गामा देरावे लाय ।
लोकां ने करे आकुला जी,
इण विध धन लुसा (टा) य हो गोयम ॥१४॥

वाट पाड़ लुटे लोकने जी
पीड़ा उपजावी पूर ।
आचार भ्रष्ट करतो थको जी
दुष्ट कर्म वहु-कूड़ हो गोयम ॥१५॥

आँगलियाँ थी तर्जतो जी
केहने चपेटा लात ।
इण रीते निरघन काया जी
विचरो छो इण भाँत हो गोयम ॥१६॥

वले एकाई एहवो जी
तिण ही खेड़ा नी माय ।
ते छे मुखिया गाम राजी
ए चौधरियाँ मिल जाय हो गोयम ॥१७॥

खेड़ा ना राइसर मांडवी जी
जिहा लगे सारथवाह ।
अवर अनेराइ लोकनो जी
कारण कारज नेई राह हो गोयम ॥१८॥

म तो गुरु निसचा विखे जी
वलें विवहाँ रे वात ।
असुणी ने सुणी कहे जी
सुणी ने नट जात हो गोयम ॥१९॥

देख्यो भाल्यो ने ग्रन्थ में
आगे होय नट जाय ।
जाणतो कहे जाणं नहीं जी
एहवा करम कराय हो गोयम ॥२०॥

इण एकाई ऐहवा जी,
कुवध विचारग चाल ।
जाड़ा पाप करतो थको जी,
एम गमायो काल हो गोयम ॥२१॥

दूहा :—

एकाइ रठ कुंड ने इण अवसर ने जोण ।
देही म्हारे ऊपनो साथे ही सोहले रोग ॥१॥
सांस खांस ज्वर दाहरो, भगंदर पेट सूल ।
अर्ष अजीरण आंखीया, माथे सूल अतुल ॥२॥
उँकारी अंख वेदना कान वदन खज पांस
जलोदर गलत कोढ नो, एह सोलह रोग ना-नाम ॥३॥
सोले ही रोग प्राभव्यो एकाइक हे राम ।
सेवक ने तेड़ाय ने, हुकम करावे छे केम ॥४॥

ढाल :—

शील कहे जग हूँ बड़ो ! ऐहनी देशी....
खेड़ा में तू जाय ने
जठे घणा मिले छे वाटो रे ।
करे घोषणा एहवी
हुवे नरा ना थाटो रे ॥१॥
ज्यो जो रे कर्म विडम्वना,
विण भुगत्या नहीं छोड़े जी ।
सरीर तणी छाया परे
ए करम गाठा न गाठो थी ॥२॥
एकाइ रठ कूड ने
ए उपना सोले रोगो रे ।
कोइ वैद वेदनो पुत्र हुवे
जाण पुत्र जोगो रे ॥३॥
कोई तिगच्छ तिगच्छनो डीगारो,
रोग साहिली मांहिलो एगो रे ।

उपसमाँ हमांथी रे वधावणी,
देर ए कांई विसेखो रे ।।४।।
एहवी करि उदघोषणा
मारी आग्या पाछी सुपोरे ।
म्हाने आग्या करि घोषणा
वेद आयो करि चुपे रे ।।५।।
हाथ सहस्र ओखध लेई
आया एकाइ ने पासो रे ।
रोग निदान पूछ ने,
उपचार करै हुलासों रे ।।६।।
नाड़ि देख मरदन करे
को इन्हीं पाणी पावे रे ।
वमण कराय विरेच दे
उषण जल छड़कावे रे ।।७।।
कोइक डाम्मे डाजल ने,
घणा औषध कटपाणी रे ।
नवड़ावे अंग चौपड़े,
घणी चरम वासाणी रे ।।८।।
वाटी तेल वाटी चरम
अपादान मांहि घाली रे
वास देइ पावे भात रो
सिर फा ड़ेखुर डाली रे ।।६।।
चीरा देइ चामड़ी
गद पाछणा देई रे
मृग ना चव धाय रे
तेल सेती छडकेइ रे ।।१०।।
पवनादिक आड़ा करी
अंग ने चावढास केरे ।
रोहणी प्रमुख तणी
पावे छाल विसेखो रे ।।११।।

रतन-प्रभा नरक ऊपनो
आउखो सागर एको रे ।
ए भाव गौतम आगले
वीर कह्या रे वीसेखोजी ॥२०॥

दूहा :—

पहला नरक थी नीकलो मृगा नगर ने मांही ।
विजय राज मृगावती गर्भ उपनी आय ॥१॥
जव ए वालक अवतरयो, माय ने वहुली पीड़ ।
अहिसता अति दोहली, वेदन ऊजल सरीर ॥२॥
इण गरभ तणा प्रताप सुं राणी सूं फिरायो राय ।
अणिद्ध अंकत अलखावणो, दीठी पणि न सुहाय ॥३॥
तव राणी इम जाणियो, पहली हूं तो प्यार ।
हिव लागू अलखावणी तो ए गर्भ तणो उपचार ॥४॥
नाम गोत वांछे नही दीठी सुहावे केम ।
हिव उखध इसड़ो करूं, गर्भ-गले ए जेम ॥५॥
सारूं पाडू ए गहलया, मारूं एह वाल ।
राणी करम तणइ वसइ चीतवियो तिणकाल ॥६॥
खारी तीखी तूसरी, वहुली वस्तु खाय ।
गर्भ सारण प्राण तणी लगी नहीं छै काय ॥७॥

ढाल :—

काज सुधारे चतुर हुवे जिके रे । ए देशी ।

पापी बालक गले सड़े नहीं रे,
राणी थाकी हे विसेरण
पर्व सइ गर्भ लया वहे रे ।
धिग धिग करम नी रेस ॥१॥
कर्म थी न छूटे रे कोई विणभोगव्यो रे
कुण राजा कुण रंक ।
एह विपाक संसार जाण ने रे,
करज्यो धरम निसंक ॥२॥

वालक गर्भ माँहि वसता थका रे;
अभितरणी अठ नाड़ी ।
वह रही छे लोहि राध सु रे,
आठ ही वाहि विचार ।।३।।

राध वहे छे आठे नाड़ि मे रे ।
आठ लोहि जाण ।
दोय-दोय कान ने आंतरे रे,
दोय दोय आंख प्रमाण ।।४।।

दोय दोय नाक ने आंतरे रे
धमणी अन्तर दोय ।
वह रही छे लोही राध रे ।
सर्व मिली सोले होय ।।५।।

वालक मांहि थकी ऊपरो रे
अंगी रोग वाउ विकारे ।
भसम हुय जाय आहार करे
जिको रे प्रणमे राध लोही अपार ।।६।।

तेही राध लोही वलि आहार रे
इसौ भसम नामा रोग ।
तिणरा दुःख उपनो गर्भ में थका रे ।
हर हर करम संजोग ।।७।।

दुखे दुखे गर्भ वहता थका रे,
नीठ लिया नव मास ।
जाति अंध वालक राणी जनमियो रे,
जाव आका मित्र प्रकासक ।।८।।

राणी डरपी रूंड-मुड देखने रे
घणी उपीमी त्रास ।
धाय माता भणी बुलाय ने रे
वचन कहे रे विमास ।।९।।

इण वालक न एकंते जाइरे
नाख उकरडी मांहि ।

तहत वचन करि गई राजा कनेरे
वीनवियो महाराय ।।१०।।
राणी जायो इसड़ो डीकरो,
अंधो अंधो रूप ।
रूँड मुंड देखी राणी डरी रे,
सरव कही राग भूप ।।११।।
कहो तो नाखुं के नहीं नाखुं रे,
एम कह्यो छे धाम ।
सुण ने उठियो राय संतापो सूंरे
कहे राणी ने आम ।।१२।।
जो तू प्रथम ने नाखसी रे
पछे थिरवाल ने थाय ।
जतन करेसी पहिला वाल नो रे
जो हुवे पाछला री चाहि ।।१३।।
इण वालक ने तू छाने थकी,
ऊंडो भुंहरा मांहि ।
भात पाणी वहु सार करती रहे जी,
पाछे बाल थिर थाय ।।१४।।
वचन प्रमाण करी विजे राजनौ रे,
मृगा राणी विसेख ।
बालक नी संभाल करती रहे रे
तूँ आयो छे देख ।।१५।।
नारी जात भणी वालक तणी रे
हुवे छे वहुली पाप ।
मृगा राणी तिण ही कारिणे रे
करती कूंबर नो कलाप ।।१६।।
तिण पछै च्यार पुत्र जनमीया रे
तेरे देखाड़ा तोय ।
मृगा लोढो ए दुःख भोगवे रे
इसा कर्म सह जोय ।।१७।।

दूहा :—

तहत वचन करि वीर ने, पूछे गौतम धरि हेत ।
मृगा नामे बालको, मरने जासी केथ ॥१॥

वीर कहे सुण गोयमा, एह मृगा नामे बाल ।
छवीस वर्ष आउ भोगवी, तब ए करसी काल ॥२॥

इठा जम्बूदीप न भरथ में, बेताढ्यो परवत ने पास ।
सीह तणो कुल ने विष, सींह उपजसी तास ॥३॥

सो पण सींह अघ-अधर साहोसी, पापी माहासींह सीक ।
जाडा कर्म करे भरी, खासी पहली नरक में जीका ॥४॥

एक सागर नो आउखो प्रथम नरक नो मांहि ।
दुःख भोगवे ने नीकली मर ने भुज पर थाय ॥५॥

ढाल—यतीनी :—

पाप करिने भुज पर मरसी ।
जाय दूजा नरक अवतरसी ।
तिहाँ तीन सागर नी थीत
दुःख भोगवसी नित नित ॥१॥

नित दुःख भोगवनी कंली ।
पंखी होसी एह ।
काल करे तीजी नरक में ।
उपजसी जाव तेह ॥२॥

चाल तेह सत सागर थीत थासी ।
नीकल ने सीह पणो पासी ।
सीह पाप घणाइज करसी ।
मर चौथी नरक में पडसी ॥३॥

सागर दसनी थित कही ।
मरनै उर-पर होय ।
पाप तणा संचा करी ।
पंच मी नरक हुसी सोय ॥४॥

चाल सोय नरक पंचमी ठिका ।
पड़सी सत्तरह सागर नी झीको ।
नीकल ने होसी नारी ।
जठे कर्म बांछेसी या भारी ॥५॥

भारी पाप करे मरी ।
छठी नरक मंझार ।
बावीस सागर नो आउखे ।
मांहो माहिनी मारि ॥६॥

चाल मार माहो माँहि ।
कुण वारे निकले आसी मनख जिमारे ।
जिको हुँसी मनुख थती ।
सातमी जासी महाकर्मी ॥७॥

भारी कर्म ए जीवड़ो ।
सागर ते त्रीस आव ।
नीकली ने जलचर हुँसी ।
पंचएन्द्रिय पाप सभाव ॥८॥

चाल मच्छ कच्छ गहा ससमीर ।
मृग कुल कोड़ि विचार
साड़ि बारह लाख कुल कोड़ ।
इत्यादिक जलचर जोड़ि ॥९॥

जलचर से एकी काम जे
अनेक लाखावार
मर-मर न ऐ अवतरी
इम भम सी जलचार ॥१०॥

जलचर ने भम निसरसी ।
जव चौपदे में अवतरसी ।
इम उर-पुर भुजपुर जाण
खेचर पंखी प्रमाण ॥११॥

पंचइन्द्रिय प्रमाण स ।
तिर्यन्च योनि ने मांहि ।

घणु भमसी प्राणीयो
इम विगलेंद्रिय कहाय ॥१२॥

विगलिन्द्रिय जात तीन जाणी
इम करूइ वनसपती आणी ।
इम वाउ तेउ ने पाणी
इम पृथ्वी काय वखाणी ॥१३॥

एह पाँचवा थावर मांझि
लाख भवां अनेक ।
मर-मर ने वलि ऊपजी
ए ए कर्मा नी रेख ॥१४॥

गति करमा नी छे वाँकी ।
कुण राजा ने कुण राँकी ।
हिवै आगे सुणो विस्तारो ।
इण रो किम हुसी निस्तारो ॥१५॥

तथा रूप साधां कने जी ।
सांभल जिनवर धर्म ।
देसे परकारे मुंड हुसी जी ।
तज संसार नो भरम ॥३॥

पाँच सुमते समतो हुसी जो ।
तीने गुप्त विसाल ।
गुपत ब्रह्मचर्य पालसी जी ।
अणगार म्हां दयाल ॥४॥

चोखो चारित्र भाव सूँ जी ।
घणां काल लगे पाल ।
आलौइ निसल थइजी ।
काल अवसर करि काल ॥५॥

सो धर्म देवलोक ने विषे जी ।
ए ऊपज सी जाय ।
थित पूरी करी ने चवी ।
महाविदेह ने माँहि ॥६॥

अवतरसी उत्तम कुले जी ।
जिहाँ भरिया भंडार ।
रीधवंतं वहुला हुँसी जी ।
सुख सासता वहुसार ॥७॥

पांच धाय पालीजतो जी ।
दिड़ पइना जेम ।
वहोत्तर कला ने भणकरी जी ।
जाव उवाइ एम ॥८॥

घर त्यागे साधु हुसी जी ।
आणी स रूड़ो ध्यान ।
घोर मोटो तपसी हुइ जी ।
पासी केवल ज्ञान ॥९॥

केवल प्रवज्या पालने जी ।
टाली आतम दोष ।

आठे इ कर्म खपाय ने जी ।
जासी ए जीव मोक्ष ।।१०।।

प्रथम अध्ययन विस्तार सूँ जी ।
भाव कह्या वरधमान ।
गौतम प्रमुख आगले जी ।
सुणीयाँ हूँ सहु धर ध्यान ।।११।।

जम्वु सिष्य ने कहे ऐम जी
श्री सुधर्मस्वामी जी
जैसा मैं सुणी हिया जी
वीर कह्या छे आम ।।१२।।

अंग इग्यारमां विपाक मंझी ।
मृगालोढ़ा नी सोय ।
अणुसारै "जेमल" कह्या ।
विपरीते मिच्छामिदुक्कड़म मोय ।।१३।।

अठारे सैं वाहरोतरे जी ।
काती वद आठिम माख ।
भव जीवां वांचोतरे जी
मुँह में जैणा राख ।।१४।।

जगत गुरु तिसला नन्दन वीर ।
हुवा ये मोटा साहस धीर ।
घाली थे घणा धर्म नी सीरे
म्हेलाये भव जल पली तीरे ।।१५।।

●●

परिशिष्ट—२

सहायक ग्रन्थों की सूची

(१) अन्तगड सूत्र : सं० अमोलक ऋषि
(२) अलंकार पारिजात : नरोत्तमदास स्वामी
(३) अष्टछाप के कवियों का सांस्कृतिक अध्ययन : मायारानी टण्डन
(४) आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान भडार, ग्रन्थ सूची—भाग १ : सं० नरेन्द्र भानावत
(५) उत्तराध्ययन सूत्र : सं० अमोलक ऋषि
(६) उपासकदशा सूत्र : "
(७) उववाई सूत्र : "
(८) ऐतिहासिक नोंध : वाडीलाल मोतीलाल शाह
(९) कबीर ग्रन्थावली : सं० श्यामसुन्दरदास
(१०) कालू उपदेश वाटिका : आचार्य तुलसी
(११) काव्यादर्श : दण्डी
(१२) गुण गीतिका : पं० शोभाचन्द्र भारिल्ल
(१३) छन्द प्रभाकर : जगन्नाथप्रसाद "भानु"
(१४) जयवाणी : सं० मुनि श्री मिश्रीमल जी 'मधुकर'
(१५) जैनागम तत्व दीपिका : प्र० श्री श्वेताम्बर जैन हितकारिणी संस्था, बीकानेर।
(१६) जैन आचार : डा० मोहनलाल मेहता
(१७) जैन आचार्य चरितावली : आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज
(१८) जैनत्व की झांकी : अमर मुनि
(१९) जैन दर्शन : डा० मोहनलाल मेहता
(२०) जैन भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि : डा० प्रेमसागर जैन
(२१) जैन सिद्धान्त बोल संग्रह : भाग १ से ८—तक सं० भैरोदान सेठिया
(२२) जोधपुर राज्य का इतिहास : डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा
(२३) ज्योतिर्धर जय : मुनि श्री मिश्रीमल जी 'मधुकर'

(शुद्धिपत्रक)

[प्रस्तुत प्रबन्ध आकार में अधिक बड़ा नहीं है फिर भी इतना लम्बा-चौड़ा शुद्धि-पत्र देखकर शायद पाठक चौंकेंगे ? वास्तव में प्राचीन हस्तलिपि को स्पष्ट न पढ़ने व समझ पाने के कारण तथा टाइप होने में अशुद्धियाँ रह जाने के कारण, कुछ अधिकृत जानकारी प्राप्त न होने के कारण भी कुछ महत्त्वपूर्ण भूलें रह गई हैं, जिनका शुद्धीकरण विद्वद्वर्य स्वामीजी श्री लालचन्दजी म० सा० के निर्देशन में किया गया है। पाठक शुद्धिपत्र ध्यान से पढ़ें।

—प्रकाशक।]

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	६	रीवां	रीयां
४	२४	१७७३	१७७७
४	२८	१७८८	सोजत में कार्तिकी पूर्णिमा को वर्ष पूरा होकर मार्गशीर्षकृष्ण १ को नया वर्ष बैठता है। इस अपेक्षा से ८८ है। बाकी संवत् १७८७ ही समझना चाहिये।
४	२८	थे	ये
५	८	तिथियों के	तिथियों में ५ विकृतियाँ (दही, दूध, घी, तेल और मिठाई के)
६	वर्षावास की तालिका इस प्रकार है।		

(क) १ सोजत ६ चातुर्मास—

संवत् १७८८, १७९५, १८०२, १८०४, १८१८, १८३१

२ जालोर १ चातुर्मास

संवत् १७८९

३ दिल्ली १ चातुर्मास

संवत १७९०

४ मेड़ता ७ चातुर्मास

संवत् १७९१, १७९७, १८०१, १८०३, १८०६, १८२३, १८२६.

५ जोधपुर ११ चातुर्मास

संवत १७६२, १७६४, १७६६, १८००, १८०६, १८१५, १८१६, १८२५, १८२८, १८३३, १८३५

६ किशनगढ़ ५ चातुर्मास

संवत १७६८, १८१४, १८२०, १८२६, १८३७

७ जयपुर २ चातुर्मास

संवत १७६६, १८१७,

८ बोरावड १ चातुर्मास

संवत १८०७

९ जैतारण १ चातुर्मास

संवत १८०८

१० पीपाड १ चातुर्मास

संवत १८१०

११ भीलवाड़ा १ चातुर्मास

संवत १८११

१२ उदयपुर १ चातुर्मास

संवत् १८१२

१३ अमर रायपुर (वोराणा) १ चातुर्मास

संवत् १८१३

१४ बीकानेर २ चातुर्मास

संवत् १८१६-१८२२

१५ शाहपुरा २ चातुर्मास

संवत् १८३०, १८३८

१६ पाली २ चातुर्मास

संवत १८३२, १८३६

१७ नागोर ५ चातुर्मास

संवत् १७६३, १८०५, १८२१, १८२४, १८२७.

तेरह वर्ष स्थिरवास

संवत् १८३९ से १८५२ तक

(ख) चातुर्मास की अनुक्रमणिका

(१) १७८८ सोजत
(२) १७८९ जालोर
(३) १७९० दिल्ली
(४) १७९१ मेड़ता
(५) १७९२ जोधपुर
(६) १७९३ नागोर
(७) १७९४ जोधपुर
(८) १७९५ सोजत
(९) १७९६ जोधपुर
(१०) १७९७ मेड़ता
(११) १७९८ किशनगढ़
(१२) १७९९ जयपुर
(१३) १८०० जोधपुर
(१४) १८०१ मेड़ता
(१५) १८०२ सोजत
(१६) १८०३ मेड़ता
(१७) १८०४ सोजत
(१८) १८०५ नागोर
(१९) १८०६ मेड़ता
(२०) १८०७ बोड़ावड़
(२१) १८०८ जैतारण
(२२) १८०९ जोधपुर
(२३) १८१० पीपाड
(२४) १८११ भीलवाड़ा
(२५) १८१२ उदयपुर
(२६) १८१३ अमररायपुर
(२७) १८१४ किशनगढ़
(२८) १८१५ जोधपुर
(२९) १८१६ बीकानेर
(३०) १८१७ जयपुर
(३१) १८१८ सोजत
(३२) १८१९ जोधपुर
(३३) १८२० किशनगढ़
(३४) १८२१ नागोर
(३५) १८२२ बीकानेर
(३६) १८२३ मेड़ता
(३७) १८२४ नागोर
(३८) १८२५ जोधपुर
(३९) १८२६ मेड़ता
(४०) १८२७ नागोर
(४१) १८२८ जोधपुर
(४२) १८२९ किशनगढ़
(४३) १८३० शाहपुरा
(४४) १८३१ सोजत
(४५) १८३२ पाली
(४६) १८३३ जोधपुर
(४७) १८३४ पीपाड़
(४८) १८३५ जोधपुर
(४९) १८३६ पाली
(५०) १८३७ किशनगढ़
(५१) १८३८ शाहपुरा
(५२) १८३९ नागोर

(१८४० से १८५२ तक नागोर स्थिरवास के कारण)

७ — ५१ थी। इसके आगे इतना और पढ़ें कि

"श्रीनारायणदासजी महाराज"

श्री जैतसीजी महाराज यह नाम श्रीकुशलजी महाराज के पहले चाहिये। "आपके गुरुभ्राता" इसके बीच "बड़े" शब्द चाहिये।

९	१९	१८६८ माघकृष्णा चतुर्दशी,	१८६१ द्वितीयचेत सुद १
१०	६	वचकला	बुचकला
१३	५	की सीमा	

१२१	टिप्पण में ३	देवियं	देवयं
,,	,,	पज्जुवासामी	पज्जुवासामि
,,	,, ६	उपनयम	उपनयन
,,	,, ७	सन्यास	संन्यास
१२२	,, २	दिव	दिन
,,	,, ४	आण्यां	आन्यां
१२४	२	नित्यमरण और तद्भवमरण की अपेक्षा भावमरण और द्रव्यमरण कहना अधिक संगत होगा। नित्यमरण तो फिर भी इस व्याख्या का विषय हो सकता है—किन्तु तद्भवमरण का अर्थ तो जिस भव से मरे वही भव वापिस प्राप्त करे, जैसे मनुष्य मर के फिर मनुष्य भव में ही जन्मे। यह इस व्याख्या में संगत नहीं है। द्रव्यमरण वास्तविक शब्द है जो बाह्य रूप से मरे जिसे सब जान सकें कि यह मर गया।	
१२४	१६	संथरो	संथारो
१२५	२१	सखिया	सखियां
१३४	२५	तम्बू कासि	तुम्ब काष्ठ
१३५	२	न नथ ए	अन्नत्थ ए
,,	८	जान जावे	जाव जीव
,,	२८	विरिधीक	विराधिक
१३६	२	फांसु तेजीणी	फासुअ ते जाणी
,,	७	किंपल	कंपिल
,,	८	आ विसा	आविया
,,	१४	सुरीवी	सु रिषी
,,	२२	असुरी था	आतुर थाय
,,	२४	सा जीवो	भांजिवो
,,	२५	ल्या में	ल्यागे
,,	३०	असड़ी	इसड़ी
१३७	३	माली	माला
,,	८	साठा	सेंठा

१५३	१८	चढ····थाका	बेद···थकी
,,	२३	प्रामव्यो	प्राभव्यो
,,	२८	फूरो	झूरो
१५४	६	ऊपनी	ऊपनो
,,	२१	विसेरण	विसेस
,,	२२	पर्व सइ गर्भ लया	परवसे गर्भ लियां
१५५	२४	आका मित्र	आकार मात्र
,,	२६	उपीमी	ज पामी
१५६	६	सण	उठा
,,	८	धाम	धाय
,,	९	संतापो सूंरे	सितावसूंरे
,,	१०	आम	आय
१५७	३	मृगा	मृगो
,,	५	इठा	इण
,,	६	विष	विषे
१५७	७	अघ अघर साहोसी	इसो होसी
,,	,,	माहासींह सीक	महा साहसीक
,,	८	जीका	झीक
,,	१५	भोगवनी कली	भोगव नीकली
१५७		चाल	वलि
१५८		,,	,,
,,	२१	से एकी काम जे	थसे एकीका मझे
,,	२४	ने	में
,,	३०	तिर्यन्च	तिर्यञ्च
१५९	१६	वलदयापणइ	वलदिया पणे
१६०	३	देसे	दसे
,,	८	म्हां	महा
,,	१३	सो धर्म	सौधर्म
,,	१९	वंते वहुला	वंतो वहुलो

●●

श्रीजयध्वज प्रकाशन समिति के सदस्यों की नामावली

१ श्रीमान् प्रेमचन्दजी श्रीश्रीमाल रायपुर (मध्यप्रदेश)
२ ,, लालचन्दजी मरलेचा, रायपुरम् मद्रास
३ ,, मोहनलालजी वोहरा, अलसूर बेंगलोर
४ ,, पुखराजजी लूंकड चिकपेट बेंगलोर
५ ,, फूलचन्दजी लूणिया चिकपेट बेंगलोर
६ ,, अमोलकचन्दजी सिंगी पुलिआनतोप मद्रास
७ ,, माँगीलालजी गोटावत बिन्निमिल रोड बेंगलोर
८ ,, रणजीतमलजी मरलेचा पल्लावरम् मद्रास
९ ,, तेजराजजी सुराणा तिरुमझिशायी मद्रास
१० ,, लालचन्दजी डागा टंडियारपेट मद्रास
११ ,, भँवरलालजी गोठी, साउकार पेट मद्रास
१२ ,, रिद्धकरणजी वेताला साउकार पेट मद्रास
१३ ,, पुखराजजी वोहरा पेरम्बूर मद्रास
१४ ,, मोहनलालजी चोरड़िया मैलापुर मद्रास
१५ ,, भँवरलालजी विनायकिया अजीजमुल्क, मद्रास
१६ ,, गजराजजी मूथा अजीजमुल्क मद्रास
१७ ,, फूलचन्दजी खारीवाल थौजंडलाइट मद्रास
१८ ,, राजमलजी मरलेचा रेड्हिल्स मद्रास
१९ ,, कपूरचन्द भाई सुतारिया साउकार पेट मद्रास
२० ,, सोनराजजी सिंगी रायपुर (मध्यप्रदेश)
२१ ,, फतहचन्दजी कटारिया केवलरी रोड बेंगलोर
२२ ,, माँगीलालजी डूंगरवाल नगरथ पेट बेंगलोर
२३ ,, पारसमलजी सांखला मैसूर रोड बेंगलोर
२४ ,, नेमीचन्दजी खींचा अलसूर बेंगलोर
२५ ,, जवाहरलालजी मूथा अलसूर बेंगलोर
२६ ,, केवलचन्दजी बगमेचा गोडाउनस्ट्रीट बेंगलोर
२७ ,, नथमलजी सिंगी ट्रिप्लीकेन बेंगलोर

२८ ,, केवलचन्दजी बाफणा आलन्दूर बेंगलोर
२९ ,, गणेशमलजी सिंगी तिरुवेल्लोर बेंगलोर
३० ,, पारसमलजी बोहरा तिरुवेल्लोर बेंगलोर
३१ ,, मोहनलालजी कोठारी विरंजीपुरम् बेंगलोर
३२ ,, जैवन्तराजजी खिवसरा नागलापुरम् (आँध्र प्रदेश)
३३ श्रीमती पिस्ताबाई सांडिया (मारवाड)
३४ श्रीमान् भानीरामजी सिंगी तिरुवेल्लोर मद्रास
३५ ,, चान्दमलजी कोठारी अलसूर बेंगलोर
३६ ,, धनराजजी बोहरा अलसूर बेंगलोर
३७ ,, मिश्रीमलजी भलगट, भण्डारा महाराष्ट्र
३८ ,, जंगलीमलजी भलगट भण्डारा महाराष्ट्र
३९ ,, झूमरलालजी भलगट भण्डारा महाराष्ट्र
४० ,, हस्तीमलजी वाणिगगोता मामूलपेट बेंगलोर
४१ ,, भीखमचन्दजी गादिया तिरुवेल्लोर मद्रास
४२ ,, रंगलालजी रांका पट्टाभिराम मद्रास
४३ ,, प्राणजीवनलाल भाई विलेपारले बम्बई
४४ ,, रसिकलाल भाई विलेपारले बम्बई
४५ ,, शान्तिलाल भाई विलेपारले बम्बई
४६ ,, रजनीकान्त भाई विलेपारले बम्बई
४७ ,, हस्तीमलजी बोहरा आंजरला रत्नागिरि
४८ ,, तेजराजजी धोका सौदापुर पेट
४९ ,, हीरालालजी बोहरा राबर्टसनपेट
५० ,, मिश्रीमलजी लूणिया चण्डावल (मारवाड़)
५१ ,, रतनचन्दजी बोहरा साउकार पेट मद्रास
५२ ,, जवरचन्दजी बोकड़िया साउकारपेट मद्रास

●●